शिक्षण-विचार

•

विनोबा

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी

प्रकाशक
अ० वा० सहस्रबुद्धे
मंत्री, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ
वर्धा (म० प्र०)

पहली बार : १५,०००
दिसंबर, १९५५
मूल्य : सवा रुपया

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

दो शब्द

●

इस पुस्तक में शिक्षण सम्बन्धी मेरे विचारों का संग्रह किया गया है। इसमें के ५-७ लेख 'मधुकर' में आ चुके हैं, फिर भी एकत्र संग्रह के लिए इसमें ले लिये गये हैं। मेरा सारा जीवन ही शिक्षण-कार्य में बीता है और बीत रहा है। कभी आत्म-शिक्षण चला और कभी विद्यार्थियों का शिक्षण। इसलिए पाठकों को इसमें केवल अनुभवपूर्ण विचार ही मिलेंगे, स्वच्छन्द विचार नहीं।

दस वर्ष के भीतर सारे देश में नवीन शिक्षण चालू करने का संकल्प देश ने किया है। ऐसे अवसर पर यह पुस्तक बहुत उपयोगी होगी, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

पड़ाव : डांगरसुरुड़ा
(कोरापुट, उड़ीसा)
३१-८-'५५

—विनोबा

अनुक्रम

शिक्षण-विचार

निवृत्त-शिक्षण : १ :

[फ्रांसीसी ग्रन्थकार रूसो की 'एमिली' नामक शिक्षाशास्त्रीय पुस्तक के बारे में एक सभा में अध्यक्ष-पद से व्यक्त किये गये विचार सारांश रूप में थोड़े हेर-फेर के साथ यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं।]

रूसो की प्रतिभा

फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के बारे में रूसो और वाल्टेयर, इन दो ग्रन्थकारों के नाम काफी प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थकारों की भाषा, विचार-शैली और लेखन-पद्धति तेजस्वी, सजीव और क्रान्तिकारी है। लोगों को उनकी लेखनी से जितनी दहशत रहती थी, उतनी बड़े-बड़े बलवान् नृपतियों के शस्त्र-बल से भी नहीं मालूम पड़ती थी। इनके लेखन का सक्रिय परिणाम ही फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति थी। इन दोनों ग्रन्थकारों में रूसो बहुत ही भावना-प्रधान था। लेख लिखने के लिए कभी उसने भाषा-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। हृदय में समा न सकने के कारण बाहर फूट पड़ने के लिए भीतर से धक्के देनेवाले ज्वालामुखी पर्वत के जाज्वल्य फेन की तरह, किम्बहुना उससे भी अधिक दाहक, उस लेखक के विचार उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसके न चाहते हुए भी बाहर

निकल पड़ते थे। उसके लेखों में उसका हृदय बोलता था और इसलिए बौद्धिक या तार्किक कसौटी पर उनके न टिक सकने पर भी, इतिहास को भी मंजूर करना ही पड़ता है कि वे 'जलती आग' रहे। उसके लेखों का एकमात्र सूत्र था : मृत-जीवन की अपेक्षा जीवित-मृत्यु ही श्रेयस्कर है। ऐसे प्रभावशाली, प्रति-भावान् ग्रन्थकार के शिक्षाविषयक विचारों का गम्भीरतापूर्वक चिंतन करना हमारा कर्तव्य है।

शिक्षा के तीन विभाग

रूसो के मत से शिक्षा के तीन विभाग करने चाहिए : (१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीर के भीतर के हरएक अवयव की पूर्ण और व्यवस्थित वृद्धि होना, इंद्रियों का चतुर, चपल और कार्यकुशल बनना, विभिन्न मनोवृत्तियों का सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क आदि बौद्धिक शक्तियों का प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सब नैसर्गिक या प्राकृतिक प्रवृत्तियों का, उसके मत से, निसर्ग-शिक्षा में अन्तर्भाव हो जाता है। दूसरे शब्दों में मानव के भीतर-ही-भीतर होनेवाली शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि या आत्मिक विकास 'निसर्ग-शिक्षण' है।

इसी तरह मानव को बाह्य परिस्थिति से जो ज्ञान प्राप्त होता है और व्यवहार में जो अनुभव मिलता है, उस समस्त पदार्थ-ज्ञान या भौतिक जानकारी को वह 'व्यवहार-शिक्षण' नाम देता है।

निसर्ग-शिक्षण से प्राप्त आत्म-विकास का, बाह्य व्यवहार ज्ञान की दृष्टि से बाह्य जगत् में किस तरह उपयोग किया जाय, इस बारे में अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों का जो वाचिक, साम्प्रदायिक या शालेय (पाठशाला में मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने 'व्यक्ति-शिक्षण' संज्ञा दी है। यानी, उसकी दृष्टि से व्यक्ति-शिक्षण व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षण के बीच की कड़ी है।

वस्तुतः देखा जाय, तो यह कोई बहुत बड़ा मुद्दा नहीं कि रूसो ने शिक्षण के कितने विभाग किये। अमुक विषयों के अमुक विभाग करने चाहिए, यह कोई नियम नहीं। यह सारा सुविधा का प्रश्न है। अर्थात् दृष्टि-भेद से वर्गीकरण में भेद होना स्वाभाविक है। रूसो द्वारा किये गये तीन विभाग सर्वथा आवश्यक हैं, ऐसी भी बात नहीं। कारण, क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण, दोनों मानव को बाहर से ही मिलते हैं। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतर से मिलता है, यही कहना पड़ेगा। इस दृष्टि से अन्तःशिक्षण और बाह्यशिक्षण, इस तरह दो विभाग करने में क्या हानि है? पर इससे भी कुछ आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि चूँकि बाह्यशिक्षण केवल अभावात्मक और अन्तःशिक्षण भावात्मक है, इसलिए शिक्षा का यही एक अन्तःशिक्षण, सच्चा या तात्त्विक विभाग हो सकता है।

बाह्यशिक्षा का अखंड स्रोत

ऊपर जिसे बाह्य-शिक्षण कहा गया है, वह मानवों या पाठशालाओं द्वारा ही मिलता है, ऐसी बात नहीं। वास्तव में

वही शिक्षण इस अनन्त विश्व के प्रत्येक पदार्थ से मानव को लगातार प्राप्त होता रहता है। उसमें कभी बाधा नहीं पड़ती। शेक्सपीयर के कथनानुसार बहते झरने में प्रासादिक ग्रन्थ संग्रहीत हैं, पत्थरों में दर्शन छिपे हुए हैं और जितने भी पदार्थ हैं, सबमें शिक्षण के सारे तत्त्व भरे पड़े हैं। वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदियाँ, पहाड़, आकाश, तारे—सभी अपने-अपने ढंग से मनुष्य को शिक्षा दे रहे हैं। नैयायिकों के अणु से लेकर सांख्यों के महत्तत्त्व तक, रेखागणित के बिन्दु से लेकर भूगोल के सिंधु तक और बचपन की भाषा में कहना हो, तो "राम की चोटी से लेकर तुलसी के मूल तक"[1] सभी छोटे-बड़े पदार्थ मानव के गुरु हैं। विचक्षण विज्ञानवेत्ताओं के दूरबीनों में, व्यवहार-विशारदों के चर्म-चक्षुओं में, कल्पना-कुशल कवियों के दिव्य-चक्षुओं में या तार्किक तत्त्ववेत्ताओं के ज्ञान-चक्षुओं में जो-जो पदार्थ प्रतिभात होते या न होते हों, उन सभीसे हमें नित्य ही शिक्षा मिलती रहती है। यह विशाल सृष्टि परमेश्वर द्वारा हम सबकी शिक्षा के लिए हम लोगों के सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय और परम पवित्र ग्रन्थ है। उसके समक्ष वेद व्यर्थ हैं, कुरान रद्द है, बाइबिल निर्बल है।

बाह्य-शिक्षण अभावात्मक कार्य

पर यह ग्रन्थ-गंगा कितनी ही गहरी हो, मानव अपने लोटे से ही उसमें का पानी भरेगा। इसलिए इस विश्व से बाह्यतः

---

[1] महाराष्ट्र में बच्चे कसमें खाने या एक-दूसरे से स्पर्धा करने में इन विषयों का प्रायः उपयोग करते पाये जाते हैं।

हमें वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके और जितनों के बीज हमारे 'भीतर' निहित होंगे। यही हरएक का अनुभव है। हम-आप इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रंथ पढ़ते हैं, इतने विचार सुनते हैं और इतने पदार्थ देखते हैं, उनमें से कितने हमारे ध्यान में टिकते हैं?

सारांश, हम इस बाहरी दुनिया में से जो कुछ सीखते हैं, वह सब भूल जाते हैं और उसकी जगह उसके संस्कारमात्र शेष रह जाते हैं। किंबहुना, शिक्षण यानी जानकारी मरकर, बचे हुए संस्कार ही हैं। ऐसा होने का कारण ऊपर बताया ही जा चुका है कि जो हमारे 'भीतर' नहीं है, उसका 'बाहर' से मिलना असंभव है। इस तरह स्पष्ट है कि बाह्य-शिक्षण कोई स्वतंत्र या तात्त्विक पदार्थ न होकर केवल अभावात्मक कार्य है।

सनातन वाद

अब ऐसी जगह पर सदैव दुहरा पेंच खड़ा किया जाता है। यदि बाह्य-शिक्षण को मिथ्या कहा जाय, तो संस्कार बनने के लिए भी तो कुछ बाह्यनिमित्त, आलम्बन या आधार चाहिएं। इसके विपरीत, बाह्य-शिक्षण को सत्य और भावरूप कहा जाय, तो ऊपर बताये अनुसार अन्तर्विकास के अनुकूल थोड़ा-सा अंश ही, और वह भी संस्काररूप में शेष रहता है। यानी दोनों पक्षों में विप्रतिपत्ति (Dilemma—परस्पर विपरीत दो पक्षों की उपस्थिति) सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि आखिर इन दोनों शिक्षणों का परस्पर कौन-सा संबंध कहा जाय?

पर यह वाद नया नहीं और इसीलिए उसका निष्कर्ष भी नया नहीं है। सभी शास्त्रों में इस तरह के वाद पैदा होते रहते हैं और सर्वत्र उनका निष्कर्ष भी एक ही होता है। उदाहरणार्थ, 'सुख का बाह्य पदार्थों से क्या संबंध है ?' इस वेदान्ती वाद को ही ले लीजिये। यहाँ भी यही पेंच है। यदि कहें कि सुख बाह्य पदार्थों में है, तो उनसे सदैव सुख होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। मानसिक स्थिति बिगड़ी रहे, तो अन्य समय में जो पदार्थ सुखकर प्रतीत होते हैं, वे पदार्थ भी सुख नहीं दे पाते। इसके विपरीत, यदि ऐसा कहें कि "बाह्य पदार्थों में सुख नहीं, सुख एक मानसिक भावना है", तो वैसा नित्य अनुभव में नहीं आता। शेक्सपीयर के कथनानुसार अगर इच्छा ही घोड़ा बनती, तो हर व्यक्ति घुड़सवार हो जाता। पर वैसा नहीं होता, यह कठोर सत्य है। फिर यह प्रश्न हल कैसे किया जाय ?

इसी तरह, न्यायशास्त्र का एक उदाहरण लीजिये। 'मिट्टी और घड़े का संबंध क्या है ?'—यह प्रश्न है। यदि कहें कि जो 'मिट्टी सो घड़ा' तो मिट्टी से पानी भरिये ! और यदि कहें कि मिट्टी और चीज है तथा घड़ा और चीज, तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिये, अपना घड़ा ले जाइये ! ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि आखिर दोनों का संबंध क्या है ? यदि साफ-साफ कह दें कि कौन-सा संबंध है, यह हम नहीं कह सकते, तो वह हमारा अज्ञान ही दीख पड़ेगा। इसलिए इस संबंध का 'अनिर्वचनीय संबंध'—यह भव्य, प्रशस्त और संस्कृत नाम है। किन्तु यह संबंध अनिर्वचनीय होने पर भी जिस तरह एक पक्ष में "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" यानी मिट्टी तात्त्विक और घड़ा

मिथ्या इस तरह तारतम्य से निर्णय किया जाता है, ठीक उसी तरह, दूसरे पक्ष में, अंत:शिक्षण भावरूप और बाह्य-शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

बाह्य-शिक्षा का 'भाव' थोड़ा

किंतु ऐसा कहने पर एक और भी मूलोच्छेदक प्रश्न उठता है। हमने शिक्षण के दो विभाग किये हैं। उनमें अन्त:शिक्षण या आत्मिक विकास भावरूप होने पर भी वह प्रत्येक व्यक्ति के भीतर-ही-भीतर हुआ करता है। उसके बारे में हम कुछ भी नहीं कर सकते। उसका कुछ पाठचक्रम भी बनाया नहीं जा सकता; और बनाया भी जाय, तो उसका कार्यान्वित किया जाना संभव नहीं। बाह्य-शिक्षण सामान्यत: और व्यक्ति-शिक्षण विशेषत: अभावरूप निश्चित किया गया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि "न हि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति"—कोई भी किसीको कभी खरगोश का सींग नहीं देता—इस न्याय से शिक्षण-विषयक सारा-का-सारा आन्दोलन क्या मूर्खता का प्रदर्शन ही कहा जाय ?

ऊपर-ऊपर से यह आक्षेप जैसा निरुत्तरणीय या अचूक मालूम पड़ता है, वास्तव में वैसा नहीं है। कारण हम जब बाह्य-शिक्षण को अभावात्मक कहते हैं, तब हम यह नहीं कहते कि वह कार्य ही नहीं है। वास्तव में वह कार्य है, उपयुक्त कार्य है, पर वह अभावात्मक कार्य है, यही हमारे कहने का तात्पर्य है। शिक्षा द्वारा कोई स्वतंत्र तत्त्व उत्पन्न नहीं करना है; प्रत्युत निद्रित तत्त्वों को जाग्रत करना है। तो यही कहना

है कि लोग जिस अर्थ में शिक्षा का उपयोग समझते हैं, उस अर्थ में उसका उपयोग नहीं है। पर इतने मात्र से शिक्षण निरुपयोगी नहीं होता। उग्र सुधारवादियों के विधवा-विवाहोत्तेजन को समाज-शिक्षक कर्वे का 'विधवा-विवाह प्रतिबन्ध-निवारण' निरुपयोगी प्रतीत होने पर भी वास्तव में वह उपयोगी ही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सारांश, शिक्षण उत्तेजक दवा न होकर, प्रतिबंध-निवारक उपाय है।

रस्किन ने शिल्पकला की भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पकार को पत्थर या मिट्टी से मूर्ति उत्पन्न नहीं करनी होती, वह उसमें विद्यमान है ही। केवल छिपी हुई है। उसे प्रकट करने का काम शिल्पकार का है। इस तरह स्पष्ट दीखता है कि शिक्षण अभावात्मक होने पर भी उपयुक्त है और प्रतिबंध-निवारण के नाते ही क्यों न हो, उसे थोड़ी भावात्मकता भी प्राप्त है। यही अर्थ ध्यान में रखकर शिक्षण "तारतम्य से अभावात्मक" है, ऐसा सावधानी की भाषा में ऊपर कहा गया। "आत्म-विकास के अर्थ में शिक्षण अभावात्मक है अर्थात् उसका भाव बहुत थोड़ा है।"

मूर्खतापूर्ण पद्धति

पर चूंकि हम लोगों ने शिक्षण का भाव बेहद बढ़ा दिया, इसलिए आज की हमारी शिक्षा-पद्धति अत्यंत अस्वाभाविक, विपरीत और हास्यास्पद हो गयी है। बच्चे की स्मरण-शक्ति तीव्र दीख पड़ते ही उसे अधिक-से-अधिक पाठ करने को उत्तेजित

किया जाता है। तब पिता को ऐसा लगता है कि इस बच्चे के मस्तिष्क में कितना ठूँसे और कितना नहीं ? शालेय शिक्षा-पद्धति में भी यही ढंग अपनाया जाता है और इसके विपरीत अगर छात्र मंद-बुद्धि हो, तो जान-बूझकर उसकी निश्चय ही उपेक्षा की जाती है। बुद्धिमान् कहे जानेवाले छात्र कॉलेज पहुँचने तक किसी तरह टिक पाते हैं, पर आगे प्राय: वे पिछड़ ही जाते हैं। कॉलेज में वे यदि न पिछड़े, तो आगे व्यवहार में निस्सत्त्व सिद्ध होकर ही रहते हैं। इसका एकमात्र कारण उनकी कोमल बुद्धि पर फालतू बोझ डालना ही है। घोड़ा चपल है, ठीक से चल रहा है, तो उससे छेड़छाड़ करने की जरूरत नहीं। पर वैसा न करके घोड़ा चपल है न ? फिर लगाइये उसे चाबुक। इससे क्या होगा ? घोड़ा भड़ककर गड्ढे में जा गिरेगा और मालिक को भी जा गिरायेगा। यह मूर्खतापूर्ण जंगली पद्धति, कम-से-कम राष्ट्रीय पाठशालाओं में तो बन्द ही होनी चाहिए।

शिक्षा का रहस्य

वस्तुत: छात्र का जैसे ही यह भाव हुआ कि मैं शिक्षा ग्रहण कर रहा हूँ, तो यह समझ लें कि शिक्षा का सारा मजा ही किरकिरा हो गया। छोटे बच्चों के लिए खेलना उत्तम व्यायाम कहा जाता है, इसका भी रहस्य यही है। खेलने में व्यायाम तो हो जाता है, पर 'हम व्यायाम कर रहे हैं', ऐसा अनुभव नहीं होता। खेलते समय आसपास की दुनिया मर गयी होती है। बच्चे तद्रूप होकर अद्वैत का अनुभव करते रहते हैं। देह की सुध-बुध नहीं रह जाती भूख, प्यास, थकान, पीड़ा, कुछ

भी मालूम नहीं पड़ती। सारांश, खेल का अर्थ आनन्द या मनोरंजन रहता है। वह व्यायामरूप कर्तव्य नहीं बन पाता। यही बात सभी प्रकार की शिक्षाओं पर लागू करनी चाहिए। शिक्षा एक कर्तव्य है, ऐसी कृत्रिम भावना की अपेक्षा शिक्षा का अर्थ आनंद है, यह प्राकृतिक और उत्साहभरी भावना पैदा होनी चाहिए। पर क्या हम लोगों के बच्चों में आज ऐसी भावना दीख पड़ती है? 'शिक्षण आनंद है' यह तो दूर, 'शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी आज प्रायः दिखाई नहीं पड़ती। आज के छात्रवर्ग में गुलामगिरी की एकमात्र यह भावना प्रचलित है कि शिक्षा यानी "सजा"। बच्चा ज्यों ही कुछ जिन्दादिली या स्वतंत्र प्रवृत्ति की झलक दिखाने लगता है, त्यों ही घरवाले कहने लगते हैं: 'इसे अब पाठशाला में बाँधे रखना चाहिए।' पाठशाला माने क्या? 'बाँध रखने की जगह!' अर्थात् इस पवित्र कार्य में हाथ बँटानेवाले शिक्षक हुए इस सदर जेल के छोटे-बड़े अधिकारी!

शिक्षा का काम

पर यह दोष है किसका? शिक्षणविषयक हमारे जो मत हैं और तदनुसार हमने जिस पद्धति का या पद्धति के अभाव का अवलम्बन किया, उसीका यह दोष है। छात्र की शिक्षा अनजाने या सहज होनी चाहिए। बचपन में बालक अपनी मातृभाषा जिस सहज-पद्धति से सीखता है, उसकी आगे की शिक्षा भी उसी सहज-पद्धति से होनी चाहिए। नन्हा बच्चा व्याकरण का अर्थ नहीं जानता। पर वह कभी "माँ आया" ऐसा नहीं कहता।

मतलब यह कि वह व्याकरण समझता है। भले ही उसे 'व्याकरण' शब्द न मालूम हो और व्याकरण की परिभाषा अवगत न हो, पर व्याकरण का मुख्य कार्य सम्पन्न हो चुका है।

ध्यान रहे कि साध्य और साधन में उलट-पुलट न हो। साध्य के लिए ही साधन होते हैं, साधन के लिए साध्य नहीं। यही बात तर्क की है। आखिर गौतम के न्यायसूत्र या अरस्तू का तर्कशास्त्र क्यों पढ़ा जाता है? इसीलिए न कि व्यवस्थित विचार कर पायें, विशुद्ध अनुमान निकाल सकें? दीपक मन्द होने लगे, तो बालक को भी यह अनुमान हो सकता है कि 'बहुधा उसमें तेल न होगा।' उसके मस्तिष्क में सारा तर्क रहता ही है। यह ठीक है कि वह पंचावयव[1] वाक्यों या "सिलॉजिज्म" की रचना कर दिखा नहीं सकता, फिर भी छात्रों में तर्क-शक्ति मूलतः ही रहती है। शिक्षा का इतना ही काम है कि उसे (तर्क-शक्ति को) बार-बार खाद्य मिलने के अवसर ला दिये जायँ। सभी शास्त्र, सभी कलाएँ, सभी सद्गुण, बीजरूप से मानव में स्वयंसिद्ध ही हैं। हमें वह बीज नहीं दीखता, पर इसीलिए बीज नहीं है, ऐसी बात नहीं।

---

[1] न्यायशास्त्र में दूसरे को बोध कराने के लिए अनुमान हैं। निम्न-लिखित पाँच अवयवों से युक्त वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। १. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन। जैसे, पर्वत अग्निमान् है धुआँ होने से, जहाँ धुंआँ रहता है, वहाँ आग रहती है, यथा रसोईघर। यह पर्वत कभी आग को न छोड़ रहनेवाले धुएँ से युक्त है, इसलिए यह पर्वत अग्निमान् है।

रूसो का विचार-दोष

किन्तु कई बार ऐसा दीखता है कि रूसो को यह मत पसंद नहीं है। कारण, वह कभी-कभी इस तरह की भी भाषा का प्रयोग करता रहता है कि मानव स्वभावतः दुर्बल और अनीतिमान् है। शिक्षा से उसे बलवान् या नीतिमान् बनाना है। मूलतः वह पशु है, पर उसे मनुष्य बनाना है। "पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसंभवः"—मैं पाप हूँ, पाप करनेवाला हूँ, पापात्मा हूँ और पाप से पैदा हुआ हूँ। यह उसका पूर्वरूप है। उसका उत्तररूप शिक्षा से उत्पन्न होनेवाला है। ऐसी भाषा उसने कहीं-कहीं लिखी है। इसके विरोधी वाक्य भी उसके ग्रंथ में नहीं दीखते, यह बात नहीं। इसलिए 'उसका यही मत है' यह कहना कठिन है।

फिर भी उसका यही मत हो, तो उसमें उसका अपना दोष नहीं, बल्कि समय और परिस्थिति का वह दोष है, यह कहने की गुंजाइश है। स्वतंत्र बुद्धिमान् लोग भी 'परिस्थिति के गुलाम' न कहे जायँ, तो भी परिस्थिति से बने हुए रहते ही हैं। फिर रूसो के समय फ्रांस की स्थिति कितनी भीषण थी। आज भारत में जिस तरह इकतीस करोड़ जन्तुओं का भीषण दृश्य दीखता है, फ्रांस की भी उस समय ऐसी ही स्थिति थी। फलतः रूसो जैसे ज्वालामुखी, उग्र और भीषण तड़पन रखनेवाले मानव का भावनामय, विकारी हृदय मानव-जाति के तिरस्कार से भर गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामगिरी देखते ही उसे चिढ़ हो आती, उसका खून खौल उठता और चित्तवृत्ति काबू के बाहर

हो जाती थी ! ऐसी स्थिति में मानव-जाति के तिरस्कार से उसका यह मत बन गया हो कि 'मानव एक जानवर होकर शिक्षण से थोड़ा-बहुत आदमी बनता है' तो उसका मतलब हम भलीभाँति समझ सकते हैं। पर रूसो के बारे में हमें कितनी भी सहानुभूति क्यों न हो, उसका ऐसा मत, फिर वह किसी भी या कैसी भी स्थिति में क्यों न कहा गया हो, निस्संदेह अनुचित है।

मानव स्वभावतः दुष्ट नहीं

मानव को स्वभावतः दुष्ट मानने में निखिल मानव-जाति का अपमान तो है ही, निराशावाद भी इसमें कमाल का है। मानव मूलतः दुष्ट हो, तो शिक्षा की कोई आशा नहीं रह जाती। चूँकि तार्किक दृष्टि से किसी वस्तु से उसका स्वभाव सदा के लिए अलग कर देना असंभव है, इसलिए यदि मानव-स्वभाव मूलतः दुष्ट हो, तो उसके सुधार के सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होकर निराशा-वाद का और साथ ही पाशविक वृत्ति का साम्राज्य शुरू हो जायगा। कारण, शिक्षण की आशा समाप्त होने का अर्थ ही है, दण्ड-राज्य की स्थापना।

आजकल कितने ही लोग आवेश में कहते हैं कि 'हम लोगों का ब्रिटिश-सरकार पर से सदा के लिए विश्वास उठ गया।' सुदैव से उनका यह कहना केवल आवेश का ही होता है। यदि वह सच्चा होता, तो किसी भी शान्तिमय आन्दोलन का मतलब 'निराशा का कर्मयोग' मात्र रह जाता। स्वावलंबन की दृष्टि से यह कहना ठीक है कि 'सरकार पर विश्वास करने से काम नहीं हो सकता।' पर यदि इसका अर्थ यह हो कि हमारा दृढ़ विश्वास

हो गया कि 'अंग्रेजों को हृदय नहीं, उनमें कभी भी सुधार हो नहीं सकता', तो अहिंसात्मक आन्दोलन का अर्थ—नाइलाज का इलाज होगा। 'प्रत्येक मानव को आत्मा है' यही मौलिक कल्पना सत्याग्रह या शिक्षा का मुख्य आधार है। जिस तरह शत्रुओं को आत्मा न होने का निश्चय होने पर सत्याग्रह मर जायगा, ठीक उसी तरह मनुष्य के स्वभावतः दुष्ट होने पर शिक्षण की भी अधिकांश आशा नष्ट हो जायगी। फिर "छड़ी लागे चम् चम्, विद्या आये घम् घम्", यही एक वाक्य शिक्षण का यथार्थ सूत्र निश्चित होगा। इसलिए विचार-शील तत्त्वज्ञों एवं शिक्षाविदों का यही सुनिश्चित निर्णय है कि मानवीय मन में पूर्णता के सभी तत्त्व बीजरूप से स्वतःसिद्ध हैं।

सहज-शिक्षा ही सच्ची शिक्षा

यह शास्त्रीय सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर जिस तरह आज की हास्यास्पद शिक्षण-पद्धति गलत सिद्ध होती है, उसी तरह 'शिक्षा का कार्य सुयोग्य नागरिक बनाना है', ऐसे आत्म-संभावित सिद्धान्त भी निराधार सिद्ध होते हैं। मानवीय मूर्खता की यह महिमा देखिये कि हम बच्चों को कुछ भी शिक्षण देते हैं, बच्चों के मन पर किसीका भी प्रभाव बैठ जाता है और हम उस प्रभाव और अपने शिक्षण का समीकरण कर 'अस्माकमेवायं विजयः'—यह हमारी ही विजय है, 'अस्माकमेवायं महिमा'—हमारी ही यह महिमा है, ऐसा कहकर नाच उठते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि शिक्षा देने की पद्धति ऐसी हो कि छात्रों में यह भावना ही न उत्पन्न हो कि 'हम शिक्षा पा रहे

हैं।' ऐसा होने के लिए, उसीके साथ-साथ शिक्षक के मन में भी गुरुत्व की यह अस्पष्ट भावना न रहे कि "मैं छात्रों को शिक्षा दे दे रहा हूं।" गुरु के स्वयं अनन्य और सहज शिक्षक हुए बगैर छात्रों को भी सहज-शिक्षण मिल नहीं सकता।

जब आपसे (छात्रों से) यह कहा जाता है कि 'हम फ्रोबेल, पेस्टॉलॉजी या मॉन्टेसरी की पद्धति से शिक्षा दे रहे हैं' तो आप खुशी से यह समझ लें कि यह केवल वाणी का श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी भी पद्धति की अर्थशून्य नकल है, यह प्रेत है, इसमें प्राण नहीं है। शिक्षण यानी बीजगणित का कोई फार्मूला (सूत्र) नहीं कि उसे लगाते ही उत्तर तैयार! आज दी जाने-वाली शिक्षा शिक्षा ही नहीं और न उसे देने की वर्तमान पद्धति ही वास्तविक पद्धति है। 'भीतर की दौड़, जो स्वभावतः बाहर उमड़ पड़ती है', वही शिक्षण है।

शिक्षा का अनिर्वचनीय स्वरूप

यह सहज-शिक्षण सदोषमपि—सदोष होने पर भी—चल सकता है, पर विशिष्ट पद्धति से गुलामों द्वारा, व्यवस्थित ढंग से मिलनेवाला अज्ञान कतई नहीं चाहिए। कारण, आखिर शास्त्र क्या है? शास्त्र का अर्थ है, 'व्यवस्थित अज्ञान'। इसके सिवा शास्त्र का कोई और अर्थ है क्या? शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेन्सर शिक्षा-शास्त्र के बारे में लिखता है कि 'शिक्षा से अलौकिक व्यक्ति निर्माण नहीं होते।' फिर ऐसे शास्त्रों को शास्त्र की दृष्टि से कितनी कीमत दी जा सकेगी? वास्तव में तो शास्त्र की यह प्रतिज्ञा होनी चाहिए—"एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृत-

कृत्यश्च भारत"—अर्जुन ! इसे जानकर बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाओगे। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर पाता, वह शास्त्र साफ-साफ लोगों की आँखों में धूल झोंकने का सुव्यवस्थित यत्न ही है। शेक्सपीयर ने किस नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था ? क्या कोई कभी अलंकारशास्त्र के नियम रटकर प्रतिभावान् कवि या काव्य-रसिक बना है ? 'शास्त्र', 'पद्धति' का शब्द-सृष्टि से अधिक कुछ भी अर्थ या महत्त्व नहीं। यह केवल भ्रम है। 'यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि' भर्तृहरि का यह बड़ा ही मार्मिक वचन है कि श्रेष्ठ पुरुषों की स्वैर कथाएँ ही शास्त्र हैं। इस प्रसंग में वही सच्चे अर्थ में लागू होता है।

'जो बिना किसी पद्धति के पद्धतियुक्त या व्यवस्थित बनता है, जिसे कोई भी गुरु दे नहीं सकता, फिर भी जो दिया जाता है', शिक्षण का यही अनिर्वचनीय स्वरूप है ? इसीलिए दिव्यदृष्टि-सम्पन्न महात्माओं ने यही उद्‌गार व्यक्त किये कि शिक्षा कैसे दी जाय, यह हम नहीं जानते—"न विजानीमः" (केन उपनिषद्)। शिक्षा-पद्धति, पाठ्यक्रम, समय-पत्रक—ये सब अर्थ-शून्य शब्द हैं। इनमें सिवा आत्म-वंचना के और कुछ नहीं है। जीने की क्रियायें में ही शिक्षा मिलनी चाहिए। जब जीने की क्रिया से भिन्न 'शिक्षण' नाम की कोई स्वतंत्र क्रिया बन जाती है तब किसी विजातीय द्रव्य के शरीर में प्रविष्ट होने पर संभाव्य दुष्परिणाम की तरह शिक्षा का भी मन पर विषैला और रोग-युक्त प्रभाव पड़ता है। कर्म की कसरत किये बगैर ज्ञान की भूख नहीं लगती और वैसी स्थिति में जो ज्ञान विजातीय रूप से भीतर घुस पड़ता है, पचनेंद्रियों में उसे पचाने की ताकत नहीं रहती।

अगर केवल पुस्तकें मस्तिष्क में ठूँसने से मानव ज्ञानी बनता, तो लायब्रेरी की आलमारियाँ ज्ञानी बन जातीं। जबरदस्ती ठूँसे हुए ज्ञान से तो अपचन होकर 'बौद्धिक पेचिश' ही शुरू होती और मानव की 'नैतिक मृत्यु' हो जाती है!

× × ×

निवृत्त-शिक्षण की व्याख्या

जो बात छात्रों की शिक्षा के लिए लागू होती है वही लोक-शिक्षण या लोक-संग्रह के लिए भी लागू होती है। महापुरुषों की दृष्टि से समाज बहुत ही नन्हा बच्चा है। भीष्माचार्य आमरण-ब्रह्मचारी रहे। जब कि कहते हैं कि बिना पुत्र के सद्गति नहीं, तब भीष्माचार्य को कैसे सद्गति मिलेगी? ऐसी दीर्घ शंका उत्पन्न होने पर यही समाधान किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाज के लिए पिता के समान थे, अतः हम-आप सभी उनके पुत्र हो गये। इसलिए लोक-संग्रह का प्रश्न यानी महापुरुषों की दृष्टि से छोटे बच्चों को शिक्षण देने का ही प्रश्न है। पर आज शैक्षणिक प्रश्न की तरह लोक संग्रह को भी एक बड़ा हौवा बनाकर ज्ञानी पुरुषों पर ही उसकी जिम्मेवारी है, यह कहने का सम्प्रदाय-सा चल पड़ा है।

वास्तव में लोक-संग्रह किसी व्यक्ति-विशेष पर अड़ा नहीं बैठा है। 'लोक-संग्रह मुझ पर अवलम्बित है', यह मानना ठीक इसी तरह होगा कि टिड्डी यह माने कि मेरे ऊपर ही आकाश टिका है और इसीलिए वह अपने को उल्टा टाँग ले। 'कर्ताऽहम्' —मैं कर्ता हूँ, यह कहना अज्ञान का लक्षण है, ज्ञान का नहीं। अधिक क्या, जहाँ 'कर्ताऽहम्' यह भावना जाग्रत है, वहाँ सच्चा

कर्तृत्व रह ही नहीं सकता। शिक्षण की ही तरह लोक-संग्रह भी अभावात्मक या प्रतिबंध-निवारणात्मक कार्य है। यही कारण है कि श्री शंकराचार्य ने लोक-संग्रह का यह निवर्तक स्वरूप दिखलाया है, "लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोक-संग्रहः"—लोगों की बुरे मार्ग की ओर होनेवाली प्रवृत्ति का निवारण ही लोक-संग्रह है।

तथ्य यह है कि जिस तरह सच्चा शिक्षक शिक्षा देता नहीं, उसके पास से स्वयं शिक्षा प्राप्त हो जाती है, ठीक उसी तरह ज्ञानी पुरुष भी स्वयं लोक-संग्रह नहीं करता, वह उसके हाथों अनायास हो जाता है। सूर्य स्वयं किसीको प्रकाश नहीं देता, उससे स्वाभाविक रूप से सबको प्रकाश प्राप्त हो जाता है। इस अभावात्मक कर्मयोग को ही गीता ने 'सहज कर्म' कहा है और मनु ने इसी सहज कर्म को 'निवृत्त-कर्म' की बड़ी ही सुहावनी संज्ञा दी है। 'निवृत्त-शिक्षण' भी उसी ढंग पर बनी हुई संज्ञा है। इस प्रकार का निवृत्त-शिक्षण देनेवाले आचार्य ही समाज के गुरु हैं। ये ही समाज के पिता हैं। अन्य भाड़े के गुरु न तो गुरु ही हैं और न जन्मदाता पिता पिता ही हैं। ऐसे गुरु के चरणों में बैठकर जिन्हें शिक्षा मिली हो, वे ही "मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्", इस गौरव के पात्र हैं। शेष सभी अनाथ बच्चों की तरह हैं। सभी अशिक्षित हैं। भला ऐसा उदार शिक्षण पाने का सौभाग्य कितनों को मिलता है?

—'महाराष्ट्र-धर्म'
४ अंक, जनवरी, १९२३

केवल शिक्षण : २ :

एक देशसेवाभिलाषी से किसीने पूछा—"कहिये, अपनी समझ से आप कौनसा काम अच्छा कर सकते हैं ?"

उस तरुण गृहस्थ ने उत्तर दिया—"मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षण का काम कर सकता हूं और उसका मुझे शौक है।"

"यह तो ठीक है, कारण अक्सर आदमी को जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है, पर यह कहिये कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं ?"

"जी नहीं ! मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आयेगा; मैं सिर्फ सिखा सकूँगा और मुझे विश्वास है कि यह काम मैं अच्छा कर सकूँगा।"

"हाँ, हाँ, अच्छा सिखाने में क्या शक है, पर अच्छा क्या सिखा सकेंगे ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?"

"नहीं, वह सिखाना नहीं आता।"

"तब सिलाई ? रंगाई ? बढ़ईगिरी ?"

"नहीं, यह सब कुछ नहीं।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरा घरेलू काम सिखा सकेंगे ?"

"नहीं, काम के नाम से तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं केवल शिक्षण का......"

"भाई, जो-जो पूछा जाता है, उसी-उसीमें 'नहीं, नहीं' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल शिक्षण का काम कर सकता हूं' इसके माने क्या हैं ? बागवानी सिखा सकेंगे ?"

देशसेवाभिलाषी ने जरा चिढ़कर कहा—"यह क्या पूछ रहे

हैं ? मैंने शुरू में ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता । मैं साहित्य सिखा सकता हूँ ।"

प्रश्नकर्ता ने जरा मजाक से कहा—"यह ठीक कहा । अब आपकी बात कुछ तो समझ में आयी । आप रामचरितमानस जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं ?"

अब देशसेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा और उनके मुँह से कुछ ऊटपटाँग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्ता बीच में ही बोल उठा—"शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?"

अब तो हद हो गयी । आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो । आग भभकने को ही थी कि प्रश्नकर्ता ने तुरंत उसे पानी डालकर बुझा दिया । "मैं आपकी बात समझा । आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे । इसका भी जीवन में थोड़ा-सा उपयोग है । बिलकुल न हो, ऐसा नहीं है; खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हैं ?"

"अब कोई नयी चीज सीखने का हौसला नहीं है । फिर बुनाई का काम तो मुझे आने का ही नहीं, क्योंकि आज तक हाथ को ऐसी कोई आदत ही नहीं ।"

"माना, इस कारण सीखने में कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आने की क्या बात है ?"

"मैं तो समझता हूं कि यह काम मुझे नहीं ही आयेगा । पर मान लीजिये, बड़ी मेहनत करने से आया भी, तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है। इसलिए मुझसे यह नहीं होगा, ऐसा ही आप समझिये ।"

"ठीक है जैसे लिखना सिखाने को आप तैयार हैं, वैसे खुद लिखने का काम कर सकते हैं?"

"हाँ, जरूर कर सकता हूँ; लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहने का काम भी है झंझटी, फिर भी उसके करने में कोई आपत्ति नहीं है।"

यह बातचीत यहीं समाप्त हो गयी। नतीजा इसका क्या हुआ, यह जानने की हमें जरूरत नहीं।

शिक्षकों की मनोवृत्ति समझने के लिए यह बातचीत काफी है।

आज के शिक्षक का चित्र

आज के शिक्षक का अर्थ है :

(१) किसी तरह की भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य, (२) कोई काम की नयी चीज सीखने में स्वभावतः असमर्थ और क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ, (३) केवल शिक्षण का घमंड रखनेवाला, (४) पुस्तकों में गड़ा हुआ और (५) आलसी जीव।

केवल शिक्षण का मतलब है, जीवन से तोडकर बिलगाया हुआ मुर्दा, शिक्षण और शिक्षक के मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य !

बुद्धिजीवी और मृतजीवी में फर्क

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई 'बुद्धि-जीवी' कहते हैं। पर यह है, वाणी का व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम-बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवन की

ज्योति जगाकर दिखाते हैं। गीता में बुद्धिग्राह्य जीवन का अर्थ अतीन्द्रिय जीवन बतलाया है। जो इंद्रियों का गुलाम है, जो देहाशक्ति से बोझिल है, वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है, उसे छोड़कर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गयी है, वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है और उसे जीनेवाला है: मृत-जीवी। 'केवल शिक्षण' पर जीनेवाले जीव विशेष अर्थ में मृत-जीवी हैं। इन 'केवल शिक्षण पर जीनेवालों' को मनु ने 'मृतकाध्यापक' या 'वेतन-भोगी' शिक्षक नाम देकर, श्राद्ध के काम में इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में तो मृत-पूर्वजों की स्मृति को जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, उनका इस काम में क्या उपयोग ?

आचार्य की व्याख्या

शिक्षकों को पहले 'आचार्य' कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला ही आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्रों का निर्माण हुआ है। आज हिन्दुस्तान की नयी तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माण का काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकों के बिना वह संभव नहीं।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और उसकी व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्र का सुशिक्षित वर्ग निष्प्रभ और निष्क्रिय होता

जा रहा है। इसका एकमात्र उपाय राष्ट्रीय शिक्षण की आग सुलगाना ही है।

अग्नि की दो शक्तियाँ

पर वह 'अग्नि' होनी चाहिए। अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ हैं, वहाँ अग्नि है। 'स्वाहा' का अर्थ है—'आत्माहुति देने की, आत्मत्याग की शक्ति'। 'स्वधा' का अर्थ है—'आत्म-धारणा की शक्ति'। ये दोनों शक्तियाँ राष्ट्रीय शिक्षण में जाग्रत होनी चाहिए। इन शक्तियों के जाग्रत होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। बाकी सब मृत-निर्जीव है, 'कोरा शिक्षण' है।

ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है कि अब तक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकों ने बड़ा आत्मत्याग किया है। पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्याग के मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी अपनी कसौटी भी है। जहाँ आत्मत्याग की शक्ति होगी, वहाँ आत्मधारणा की शक्ति भी होती है। आत्मधारणा की शक्ति न हुई, तो कोई किसलिए त्याग करेगा? जो आत्मा अपने को खड़ा नहीं रख सकता, वह कूदेगा कैसे? मतलब, आत्मत्याग की शक्ति में आत्मधारण पहले से ही शामिल है। यह आत्मधारण की शक्ति 'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकों ने अभी तक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करने का जो आभास हुआ, वह आभासमात्र ही है। पहले स्वधा होगा, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण को अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकों को अब स्वधा-संपादन की तैयारी करनी चाहिए।

जीवन का दायित्व लें

शिक्षकों को 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेवारी, जैसी कि किसानों पर होती है, अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियों को भी उसीमें उत्तर-दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षण की रचना करनी चाहिए, अथवा अपने आप होने देनी चाहिए। "गुरोः कर्मातिशेषेण" इस वाक्य का अर्थ 'गुरु के काम पूरे करके वेदाभ्यास करना, यही ठीक है। नहीं तो गुरु की व्यक्तिगत सेवा, इतना ही अगर 'गुरोः कर्म' करने के मानी हैं, तो गुरु की ऐसी कितनी सेवा होगी ? और उसमें कितने विद्यार्थी लगेंगे ? अतः 'गुरोः कर्म' का अर्थ है-—गुरु के जीवन में जिम्मेदारी से हिस्सा लेना। वैसा उत्तरदायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंका वगैरह पैदा हो, उन्हें गुरु से पूछे और गुरु को भी चाहिए कि अपने जीवन की जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसको एक अंग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देते जायँ। यह शिक्षण का स्वरूप है।

एकाध घंटा शिक्षण के लिए

इसीमें थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासना का ही हो, पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोडा समय उपासना के लिए देना पडता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण पर लागू करना चाहिए। सारांश, जीवन की जिम्मेदारी के काम ही दिन के मुख्य भाग में करने चाहिए और उन सभीको शिक्षण का

ही काम समझना चाहिए। साथ ही एक-दो घंटे शिक्षण के निमित्त भी देने चाहिए।

आदर्श शिक्षक के पास रहना ही शिक्षण

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन में उतारना राष्ट्रीय शिक्षण का कर्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहने से उसके जीवन में अपने आप उसके आसपास शिक्षा की किरणें फैलेंगी और उन किरणों के प्रकाश से आसपास के वातावरण का काम अपने आप हो जायगा। इस प्रकार का शिक्षक स्वतःसिद्ध शिक्षण-केन्द्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्य को पवित्र जीवन बिताने का ध्यान रखना चाहिए। शिक्षण की खबरदारी रखने के लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'केवल शिक्षण' की हवस रखने की जरूरत नहीं।

—'मधुकर' से

साक्षर या सार्थक : ३ :

रोगी मन का लक्षण

किसी आदमी के घर में यदि बहुत-सी शीशियाँ भरी रखी हों, तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसीके घर में बहुत-सी पोथियाँ पड़ी देखें, तो हम उसे सयाना समझेंगे। क्या यह अन्याय नहीं है? आरोग्य का पहला

नियम यह है कि अनिवार्य हुए बिना शीशी का व्यवहार न करो। वैसे ही जहाँ तक संभव हो, पोथी में आँख न गड़ाना या यों कहिये, आँखों में पोथी न गड़ाना, यह सयानेपन का पहला नियम है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी, फिर वह चाहे सांसारिक पोथी हो या पारमार्थिक, रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।

'सु' से 'अ' अच्छा

सदियाँ बीत गयीं, जिनके सयानेपन की सुगंध आज भी दुनिया में फैली हुई है, उन लोगों का ध्यान जीवन को साक्षर करने के बजाय, सार्थक करने की ओर ही था, साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज में बिना ढूँढे मिल जायेंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी अत्यन्त सार्थक हो सकता है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास ने देखे हैं। बहुत बार 'सु' शिक्षित और 'अ' शिक्षित के जीवन की तुलना करने पर "अक्षराणामकारोऽस्मि" गीता के इस वचन में कहे अनुसार 'सु' के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पड़ता है।

सच्चा ज्ञान सृष्टि में

पुस्तक में अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तक की संगति से जीवन को सार्थक करने की आशा रखना व्यर्थ है। 'बातों की कढ़ी और बातों का ही भात खाकर किसीका पेट भरा है?' यह सवाल मार्मिक है। कवि के कथनानुसार पोथी का कुआँ

डुबाता भी नहीं और पोथी की नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोश में लिखा है। लड़कों को लगता है कि 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में दिया है। पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश के बाहर तबेले में बँधा खड़ा है। उसका कोश में समाना संभव नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोश का वाक्य केवल इतना ही बतलाता है कि "अश्व शब्द का वही अर्थ है, जो 'घोड़ा' शब्द का है।" वह है क्या, सो तबेले में जाकर देखो। कोश में सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक में अर्थ नहीं रहता, अर्थ तो सृष्टि में रहता है। जब यह बात समझ में आयगी, तभी सच्चे ज्ञान की चाट लगेगी।

दो अक्षरों की सार्थकता

जिसने जप की कल्पना ढूँढ निकाली, उसका एक उद्देश्य था—साक्षरत्व को संक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिलकुल भूँकने ही लगा है' यह देखकर 'उसके मुँह पर जप का टुकड़ा फेंक दिया जाय', तो बेचारे का भूँकना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करने के प्रयत्न को अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने 'शतकोटि रामायण' लिखी। उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न देखकर, शंकरजी पंच चुने गये। उन्होंने तीनों को तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बाँट दिये। एक करोड़ बचे। फिर तैंतीस-तैंतीस लाख बाँट दिये। एक लाख बचा। यों उत्तरोत्तर बाँटते-बाँटते अंत में एक श्लोक बच रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप् छंद में हैं। अनुष्टुप् छंद

में अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजी ने उनमें से दस-दस अक्षर तीनों को बाँट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शंकरजी ने वे दोनों अक्षर बँटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शंकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरों में समाप्त कर दिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की बराबरी न कर सका। संतों ने भी साहित्य का सारा सार राम-नाम में ला रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हें कळे ना''—इस अभागे पामर नर को यह नहीं सूझता।

अक्षर घोखना व्यर्थ

संतों ने रामायण को दो अक्षरों में समाप्त किया। ऋषियों न वेदों को एक ही अक्षर में समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नहीं छूटती, तो 'ॐकार' का जप करो, बस। इतने से काम न चले, तो नन्हा-सा 'मांडूक्य उपनिषद्' पढो। फिर भी वासना रह जाय, तो 'दशोपनिषद्' देखो। इस आशय का एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद् में आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषि का यह कहना नहीं है कि एक अक्षर का भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटने में जीवन की सार्थकता नहीं है। वेदों के अक्षर पोथी में मिलते हैं, अर्थ जीवन में खोजना होता है। तुकाराम का कहना है कि संस्कृत सीखे बिना ही उन्हें वेदों का अर्थ आ गया था। इस कथन को आज तक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्य ने आठवें वर्ष में वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इस पर किसी शिष्य ने आश्चर्यचकित होकर

किसी गुरु से पूछा—"महाराज, आठ वर्ष की उम्र में आचार्य ने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया ?" गुरु ने गंभीरता से उत्तर दिया—"आचार्य की बुद्धि बचपन में उतनी तीव्र नहीं रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

ठोकर खाने का स्वातंत्र्य

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया, क्योंकि 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों कि दवा की'। अंत में किसीकी सलाह से उसने खेत में काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनों में वह हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभव से सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगों को बतलाने लगा। किसीके हाथ में शीघ्र शीशी देखता, तो बड़े मनोभाव से उसे उपदेश देता, "शीशी से कुछ होने-जाने का नहीं, हाथ में कुदाल लो, तो चंगे हो जाओगे।" लोग कहते, "तुम तो शीशियाँ पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो !" दुनिया का ऐसा ही हाल है। दूसरे के अनुभव से कुछ सीखने की मनुष्य को इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए। स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं ठीक कहता हूँ कि "पोथियों से कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियों में न उलझो।" तो वह कहता है, "हाँ, तुम तो पोथियाँ पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो ?" "हाँ, मैं पोथियाँ पढ़ चुका, पर तुम न चूको, इसलिए कहता हूँ।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए।" 'ठीक है, लो अनुभव। ठोकर खाने का स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहास के अनुभव से हम सबक नहीं लेते, इसीसे इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की

कद्र करें, तो इतिहास से आगे बढ़ जायँ, इतिहास की कीमत न लगाने से उसकी कीमत नाहक बढ़ गयी है, पर उसकी ओर ध्यान जाय तब न !

—'मधुकर' से

जीवन और शिक्षण : ४ :

जीवन के दो टुकड़े

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पन्द्रह-बीस बरसों में आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा को प्राप्त करे और बाद को शिक्षण को बस्ते में लपेटकर मरने तक जिये !

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथभर लंबाई का बालक साढ़े तीन हाथ का कैसे होता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम-क्रम से थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होने का भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोये, तब दो फुट ऊँचाई थी और सबेरे उठकर देखा, तो ढाई फुट हो गयी। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है कि अमुक वर्ष के अन्तिम दिन तक मनुष्य जीवन के विषय में पूर्णरूप से गैरजिम्मेदार रहे, तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैर-जिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण

गैरजिम्मेदारी से संपूर्ण जिम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान-छलाँग ही हुई। ऐसी हनुमान-छलाँग की कोशिश में हाथ-पैर टूट जायँ, तो क्या आश्चर्य !

कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में 'भगवद्गीता' कही। पहले भगवद्गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे 'जीवन की तैयारी का ज्ञान' कहते हैं, उसे जीवन से बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं; इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

हनुमान-छलाँग का नतीजा

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूँगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा।" एक, दो, चार, न जाने कितनी कल्पनाएँ करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोड़ों को ही मिलता है। पर जिन्हें मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी 'क्या चीज है', आज तक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करें? फिर पेट के लिए बन-बन फिरनेवाले शिवाजी, करुण गीत गानेवाले

वाल्मीकि और कभी नौकरी की, तो कभी पत्नी की, कभी बेटी के लिए वर की और अंत में श्मशान की शोध करनेवाले न्यूटन- — इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान-छलाँग का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा : "क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे ?"

"आगे क्या ? आगे कॉलेज में जाऊँगा ।"

"ठीक है। कॉलेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना ही रहता है। पर अभी से उसका विचार क्यों किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार नहीं हुआ यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें, कुछ सूझता नहीं । पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा ।"

"आगे देखा जायगा" ये वे ही शब्द हैं,—जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज में बेफिक्री थी और आज की आवाज में थोड़ी चिन्ता की झलक ।

फिर डेढ़ वर्ष बाद, उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से या यों कहें, अब उसे 'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार उसका चेहरा चिन्ताग्रस्त था। आवाज की बेफिक्री बिलकुल गायब थी। "ततः किम् ? ततः किम् ? ततः किम् ?" शंकराचार्यजी का यह

पूछा हुआ सनातन प्रश्न अब उसके दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर उसके पास उसका कोई जवाब नहीं था।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उन पर नहीं आता, जो 'मरण के पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आँखों से दखते हैं। जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव लेते हैं, उनका मरण टलता है और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, खिंचते हैं, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है, यह बात अंधे को उस खंभे का छाती में प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँखवाले को यह खंभा पहले ही दिखाई देता है, अतः उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

जिम्मेदारी न टालें

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है। वह आनंद से ओतप्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनन्द से भरी वस्तु है,वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिन्दगी की जिम्मेदारी से वंचित हुआ, वह सारी शिक्षा गँवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जिन्दगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर बच्चों में पैदा हो जाय, तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिन्दगी की जिम्मेदारी का भार होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो, तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है।

सच्चा मनुष्यत्व

पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षा-शास्त्रियों की भी है और इसका मुख्य कारण है—जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन यानी कलह, यह मान लेना। 'इसाप-नीति' के अरसिक माने हुए, परन्तु वास्तविक मर्म को समझनेवाले मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानों की अपेक्षा मोतियों को मान देना छोड़ दिया, तो जीवन के अंदर का कलह जाता रहेगा। और जीवन में सहकार दाखिल हो जायगा। 'बन्दर के हाथ में मोतियों की माला' (मर्कट भूषण अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है, उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके, मनुष्य के पूर्वजों के संबंध में 'डार्विन' का सिद्धान्त ही सिद्ध किया है। "हनुमान के हाथ में मोतियों की माला" वाली कहावत जिन्होंने रची, वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफादार रहे।

जीवन यदि भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने लायक वस्तु हो, तो लड़कों को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण मिलनेवाला नहीं। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गयी, वैसे ही शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए। वह दी जा सकती है। "दी जा सकती है" —यह भाषा भी ठीक नहीं है, वहीं जीवन-क्षेत्र में वह मिल सकती है।

जीवन जीने की शिक्षा

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम

शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो, तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो, उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उसमें जहाँ जरूरत हो, रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उन्हें "जीवन जीने दो।" व्यवहार में काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी "जीवन जीनेवाले हों", जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं। अन्तर इतना है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालों का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चों को समझाकर बताने की योग्यता उनमें होगी।

पेशेवर शिक्षक न हों

पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतंत्र धंधे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि से बाहर के किसी प्राणी की। और "क्या करते हो" पूछने पर, "पढ़ता हूँ" या "पढ़ाता हूँ", ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है, "खेती करता हूँ" अथवा "बुनता हूँ" ऐसे शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिये, पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए।

आदर्श गुरु-शिष्य

इसके लिए राम-लक्ष्मण जैसे विद्यार्थी और विश्वामित्र जैसे गुरु का उदाहरण लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षा के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया, तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। उन्होंने "शिक्षा प्राप्त की" ऐसा नहीं कहा जायगा। पर शिक्षा उन्हें मिली ही, जो मिलनी ही थी।

आनुषंगिक फल-शिक्षा

शिक्षण कर्तव्य-कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है, उसे जाने-अनजाने वह मिलता है। लड़कों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आयी है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरें न खाने पायें और धीरे-धीरे स्वावलंबी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है और "मा फलेषु कदाचन" यह मर्यादा फल के लिए भी लागू है।

शिक्षण-मोह से छूटें

खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना, यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी "इदमद्य मया लब्धम्"—आज मैंने यह पाया,

"इदं प्राप्स्ये"—कल वह पाऊँगा, आदि वासनाएँ आती ही हैं। इसलिए इस शिक्षण-मोह से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा, उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा, पर इस शिक्षा के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज, जिसे मैं "शिक्षण" समझता हूँ, जाती है, तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

परिश्रम का स्थान

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण म स्थान मिलना चाहिए, ऐसा माननेवाले कुछ शिक्षाशास्त्रियों का इस पर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायँ, 'पेट भरने' की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का कुछ उद्देश्य है। ईमानदारी से "पेट भरना" अगर मनुष्य साध ले, तो समाज के बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट ही हो जायँ। इसीसे मनु ने "योऽर्थे शुचिः स हि शुचिः"—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है, ऐसे यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। "सर्वेषामविरोधेन" कैसे जियें, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम

कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। "उदर-भरण नोहे, जाणिजे यज्ञ-कर्म"—यह 'उदरभरण नहीं है, इसे यज्ञ-कर्म जानो' वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ, यह भावना उचित है। 'शरीर-यात्रा' से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा यानी समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरएक में होनी चाहिए।

इसलिए यह भावना छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए उनको शक्तिभर जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केंद्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन उत्पन्न न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर शिक्षण का मोह नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

—'मधुकर' से

'पूर्णात् पूर्णम्' : ५ :

पूर्ण में से ही पूर्ण

श्रुति का वचन है—"पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।" पूर्ण से पूर्ण, यह प्राकृतिक विकास का नियम है। प्रश्न होगा कि इसका अर्थ क्या? अगर पहले भी पूर्ण और पीछे भी पूर्ण, तो 'विकास' किसका? अपूर्ण से पूर्ण कहा जाय, तो 'विकास' समझ में भी आता है। पर 'पूर्णात् पूर्ण', यह भाषा ही अर्थशून्य प्रतीत होती है।

छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण

अवश्य ही यह भाषा अर्थशून्य प्रतीत होती है, पर इसमें गंभीर अर्थ निहित है। पूर्ण से पूर्ण यानी छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण। नवजात शिशु भी पूर्ण है और बीस वर्ष का युवक भी पूर्ण है। पहला छोटे पूर्ण का उदाहरण है और दूसरा बड़े पूर्ण का। बालक को एक आँख थी या आधा नाक था और युवक को दो आँखें या पूरा नाक हो गया, ऐसी बात नहीं। दोनों को ही दो आँखें और उन दोनों के बीच एक नाक होता है। दोनों ही पूर्ण हैं। अन्तर यही है कि एक छोटा पूर्ण है और दूसरा बड़ा पूर्ण।

दो इंच की सुरेखा भी पूर्ण है और चार इंच की सुरेखा भी पूर्ण सुरेखा होती है। पहली छोटी है, तो दूसरी बड़ी। दो इंच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है और चार इंच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है। पहला छोटा है, तो दूसरा बड़ा। श्याम-पट्ट पर अंकित आँवले के बराबर जो शून्य था, वह खुर्दबीन से कोहड़े के बराबर दिखाई देने लगा। यानी खुर्दबीन ने क्या किया?

कैसा 'विकास' किया ? क्या उसने अपूर्ण शून्य को पूर्ण शून्य बना दिया ? या छोटे पूर्ण शून्य को बड़ा पूर्ण शून्य बना दिया ? खुर्दबीन ने क्या ऐसा कुछ किया कि जो शून्य आँवले के बराबर पूज्य था, उसे कोहड़े के बराबर पूज्य बना दिया ?

छोटे शून्य से बड़ा शून्य

और, सचमुच शिक्षाशास्त्र इससे अधिक कुछ भी नहीं कर सकता। शिक्षाशास्त्र की व्याख्या ही करनी हो, तो "आँवले बराबर शून्य से कोहड़ा बराबर शून्य", यह आप खुशी से करें। शिक्षा द्वारा आँवले से कोहड़ा बन जायगा, या समर्थ रामदास स्वामी की भाषा में 'मूर्ख' से 'पठित मूर्ख' अथवा अधिक-से-अधिक, अधकचरे सयाने से 'दीड शाहणा' (डेवढ़ा सयाना या मूर्ख) बनेगा। पर यह विनोद छोड़कर उसका भाव ग्रहण किया जाय, तो यह ध्यान में आ जायगा कि किस तरह 'पूर्ण से पूर्ण' नैसर्गिक विकास का नया सूत्र है।

अस्पष्ट से स्पष्ट

सुबह पाँच बजे सामने का पेड़ मुझे धुँधला दीख रहा है। दीखता तो है पूरा, पर है अस्पष्ट। साढ़े पाँच बजे थोड़ा स्पष्ट दीखने लगता है। उस समय भी पहले जैसा ही वह पूरा दीखता है, पर थोड़ा स्पष्ट है । सूर्योदय के बाद भी पूरा पेड़ दीखता है, पर अत्यन्त स्पष्ट। यह नहीं होता कि पाँच बजे चौथाई पेड़ दिखाई पड़े, साढ़े पाँच बजे आधा और सूर्योदय के बाद पूरा। तीनों दफा वह दीखा तो पूरा ही, पर पहली दफा में अस्पष्ट सम्पूर्ण, दूसरी दफा में स्पष्ट सम्पूर्ण और तीसरी दफा में अतिस्पष्ट सम्पूर्ण।

अस्पष्ट, स्पष्ट और अतिस्पष्ट, यह विकास सूर्य-प्रकाश ने किया। पर तीनों ही दफा वह विकास सम्पूर्ण का ही किया। इस तरह स्पष्ट है कि छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण, अस्पष्ट पूर्ण से स्पष्ट पूर्ण, यह प्राकृतिक विकास है।

अपूर्ण से पूर्ण और पूर्ण से पूर्ण का अन्तर

'अपूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है और 'पूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है, यह समझने के लिए एक दृष्टान्त पर ध्यान दें। मान लीजिये, हम लोग समुद्र के किनारे खड़े हैं। हमें इस समय समुद्र में जहाज वगैरह कुछ भी दिखाई नहीं देता। थोड़ी देर में एक जहाज दीखने लगता है। यानी जहाज का सिर्फ ऊपरी सिरा दीखने लगता है। थोड़ी देर बाद बिचला भाग दीखने लगता है और फिर पूरा जहाज ही दीखने लगता है। अब वह सम्पूर्ण तो दीखता है पर दूर होने के कारण अस्पष्ट है। इसके बाद जैसे-जैसे वह पास आने लगा, वैसे-ही-वैसे अधिक स्पष्ट दीखने लगता है। पहले क्षण में जहाज का जो दर्शन हुआ, तब से लेकर सम्पूर्ण जहाज दीखने तक के दर्शन को हम 'अपूर्ण से पूर्ण' कहेंगे और बाद के दर्शन को 'पूर्ण से पूर्ण'।

भूगोल-शिक्षा का दृष्टांत

एक शिक्षक छात्रों को हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ा रहा है। उसने पहले बच्चों को पूरे हिन्दुस्तान का नकशा दिखलाया। फिर उन्हें विभिन्न प्रान्त बताये, फिर सभी प्रान्तों की नदियाँ दिखलायीं। इसके बाद उसमें सभी प्रान्तों के ऐतिहासिक, धार्मिक, व्याव-

सायिक महत्त्व के स्थान दिखलाये और इसी तरह सूक्ष्म-सूक्ष्म जानकारी कराता गया। यह शिक्षक छात्रों के ज्ञान को 'पूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

दूसरा प्रयोग

दूसरा एक शिक्षक इसी तरह छात्रों को हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ा रहा है। पर पहले उसने छात्रों को एक जिले की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करा दी, फिर दूसरे जिले की। इसी तरह करते-करते उन्हें एक प्रान्त की जानकारी करा दी। अब इन छात्रों को एक प्रान्त की सूक्ष्मतम जानकारी हासिल हो गयी। किन्तु अन्य प्रान्तों के बारे में वे शून्य रहे। आगे चलकर शिक्षक ने इसी क्रम से अन्य प्रान्तों की भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करायी। अन्ततः छात्रों को पूरे हिन्दुस्तान की जानकारी हो गयी। हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ाने के बारे में ही कहें, तो कहा जा सकता है कि यह शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञान को 'अपूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

पूर्ण से पूर्ण की ओर, आत्मविकास का सनतान सूत्र है। किसी भी आत्मवान् वस्तु के विकास में यही सूत्र लागू होता है।

शिल्प-कला का दृष्टांत

"क्ले मॉडलिंग" (मिट्टी की मूर्तियाँ आदि बनाने की कला) संबंधी एक पुस्तक में मूर्ति को अपूर्ण से पूर्ण की ओर ले जाने की पद्धति का स्पष्ट निषेध किया गया है। उक्त पुस्तक में लेखक ने अपना अनुभव देते हुए लिखा है कि 'आरंभ में मिट्टी का चाहे

जैसा आकार बनायें, पर अन्त में अभीष्ट आकार प्राप्त हो जाय, तो ठीक', इस भावना से कभी काम न करें। बल्कि इस ढंग से निर्माण-कार्य करें कि आदि से लेकर अंत तक किसी भी समय कोई उसे देखे, तो वह समझ जाय कि क्या चल रहा है। ऐसा होने पर ही मूर्ति में कला का संचार होता है। नहीं तो बहुत से कलाकार यह कहते पाये जाते हैं कि अभी क्या देख रहे हैं, पूरा हो, तब देखना। शुरू में ऊटपटाँग बनाते चलें और बाद में उसे सुधारने बैठें! इस तरह की धाँधली से कला सध नहीं सकती। कला है, आत्मा का अमर अंश। इसीलिए आत्मविकास के सूत्र "पूर्ण से पूर्ण" को लेकर ही कला का जन्म संभव है।

राष्ट्र-निर्माण बहुत ही बड़ी कला है। "पूर्णात् पूर्णम्" यह सूत्र पकड़कर ही अगर उसकी रचना की जाय, तभी वह सध सकेगा।

—'मधुकर' से

आज की अनर्थकरी विद्या : ६ :

कॉलेज-शिक्षा पर आचार्य राय के विचार

बंगाल के कॉलेजों और विश्वविद्यालय के प्रधानाध्यापकों की एक परिषद् हुई थी। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय उसके अध्यक्ष थे। श्री राय ने अपने भाषण में यह बात स्पष्ट कर दी कि आज 'उच्च' शिक्षा के लिए राष्ट्रीय संपत्ति का कैसा अपव्यय हो रहा है। आपने बताया कि बंगाल के नौ सौ स्कूलों से करीब पन्द्रह

हजार छात्र मैट्रिक पास करते हैं, जिनमें से नौ हजार उच्च शिक्षा के लिए कॉलेजों में जाते हैं। उनमें पाँच सौ एम० ए० पास करते हैं और इन पाँच सौ में से भी केवल पचास ही अध्यापक बनते हैं। शेष चार सौ पचास कहीं क्लर्की आदि करके औसतन पचास रुपया मासिक कमाते हैं। इनके सिवा नौ हजार में से कुछ वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनते हैं। किन्तु इन सभी व्यवसायों में आज भारी भीड़ हो गयी है और इससे लोगों को ठिकाने का काम नहीं मिल पाता। इसलिए आचार्य राय का मत है कि नौ हजार की जगह केवल नौ सौ छात्र ही कॉलेज में भरती हों, यानी उतने ही लोगों से उच्च अध्यापन और उच्च व्यवसाय का काम पूरा हो जायगा। शेष आठ हजार एक सौ छात्र प्रति-वर्ष कॉलेज में जाकर करीब तीस लाख रुपयों का अपव्यय ही करते हैं। श्री राय ने इस हिसाब में साधारणतः यह औसत रखा है कि हर छात्र के पीछे दैनिक व्यय एक रुपया पड़ता है। इस तरह आचार्य राय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हर साल तीन सौ साठ रुपये की पूँजी पर मैट्रिक तक शिक्षाप्राप्त छात्र अगर चाहें, तो कोई भी किफायत का उद्योग-धंधा कर सकते हैं, बशर्ते वे श्रम की प्रतिष्ठा के कायल हों।

चालू शिक्षा से हानि

परन्तु यह बड़ी ही विकट समस्या बन बैठी है। आज की इस उदार शिक्षा की यह महिमा है कि जिस छात्र को मैट्रिक तक पढ़ने को मिल जाता है, वह श्रम ही क्या, अपनी आत्मा की भी प्रतिष्ठा खो बैठता है। फिर भी ऐसे लोग हैं ही, जो कहते हैं कि

इस शिक्षा से जितना संभव हो, उतना लाभ अवश्य उठाया जाय। जहाँ गुरु-शिष्यभाव नहीं है, त्याग या सेवावृत्ति का नामोनिशान नहीं है, नैतिक वातावरण नहीं है, स्वधर्म का अभ्यास नहीं है, मातृभाषा के प्रति सम्मान नहीं है, श्रम की कोई कीमत नहीं है और स्वतंत्र विचारों का कोई मूल्य नहीं है, वहाँ जाकर "लाभ" किस बात का उठाया जाय? और वहाँ के अर्थनाश का रुपया-आना-पाई का हिसाब भी क्या बैठाया जाय? कह-सुनकर जो आत्मनाश के यंत्र खड़े किये गये हैं, वहाँ अर्थनाश का हिसाब ही क्या? फिर भी चूँकि पैसा गुलामों का ईश्वर है, इसलिए अर्थनाश का हिसाब उनकी समझ में आ सकता है। ऐसा सोचकर आचार्य राय ने ये आँकड़े पेश किये हैं। कम-से-कम उन्हें भी देखकर आँखें खुलें, यही मुझे कहना है। . . .

नये राज्य में शिक्षा भी नयी हो : ७ :

वल्लभभाई का मत

'नासिक-कांग्रेस' के बाद इधर सरदार वल्लभभाई पटेल के जितने भी भाषण हुए, सबमें उन्होंने प्रचलित शिक्षा-पद्धति के बारे में तीव्र असन्तोष प्रकट किया। किताबी शिक्षा, जो इन दिनों हाईस्कूलों और कॉलेजों में प्राप्त होती है, बिलकुल निकम्मी है। इतना ही नहीं, बल्कि हानिकारक है, यह बात उन्होंने जोर देकर कही।

सरकार जाल में फँसी

कोई साधारण या असाधारण विचारक इस तरह बोलता, तो निराली बात होती। पर जिसके हाथों में राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकार का सूत्र हो, वही नेता जब ऐसा बोलता है, तो सहज ही कोई पूछ बैठेगा कि "अगर आपके मत से प्रचलित शिक्षा-पद्धति इतनी रद्दी है, तो आप उसे बदल क्यों नहीं देते ?" इसका उत्तर भी सरदार ने अपने अहमदाबाद के भाषण में दे दिया। उन्होंने कहा कि "हम सब लोग ऐसे जाल में फँसे हैं कि अब उसमें से निकलना मुश्किल हो रहा है।"

योजना बनाने तक छुट्टी दें

कितनी ही मुश्किल क्यों न हो, यह जाल शीघ्र-से-शीघ्र तोड़ फेंका जाय, यही उनके भाषण का स्पष्ट स्वर है। मैं तो कई बार अपना स्पष्ट अभिप्राय प्रकट कर चुका हूँ कि बापू ने हम लोगों के सामने 'नयी तालीम' की जो पद्धति रखी है, वह हमें सन्तोषजनक प्रतीत न होती हो और उससे अन्य दूसरी पद्धति को खोजने में कुछ समय लगे, तो सभी शिक्षा-विशेषज्ञ एक जगह बैठकर विचार करें और उनके निर्णय में जितना समय लगे, उतने समय तक देश के सभी स्कूल-कॉलेजों को छुट्टी दे दी जाय। उस छुट्टी से देश की उतनी हानि न होगी, जितनी कि सदोष शिक्षा-पद्धति के जारी रखने से होगी।

पुराना झंडा नहीं

एक दिन चर्चा के प्रसंग में मैंने एक व्यक्ति से पूछा : "जब राज्यक्रान्ति होकर पुरानी सरकार की जगह नयी सरकार

आती है, तो उस नये राज्य में क्या पुराने राज्य का झंडा चल सकता है ?" उत्तर स्पष्ट था : "नहीं चल सकता।" मैंने कहा : "शिक्षा के बारे में भी ठीक यही बात लागू होती है। जैसे, नये राज्य तो नया झंडा, ठीक वैसे ही नये राज्य में नयी शिक्षा।" नया राज्य आ गया और शिक्षा पुरानी ही चल रही हो, तो यही समझना चाहिए कि उस राज्य का नयापन ऊपरी है, भीतर से तो पुराने को ही दुहराया जा रहा है।

—'सेवक', जनवरी १९५१

सच्ची शिक्षा पाठशाला के बाहर : ८ :

चांडिल-सम्मेलन में जयप्रकाशजी ने विद्यार्थियों को सलाह दी कि 'एकाध साल के लिए कॉलेज वगैरह छोड़कर भू-दान-यज्ञ के काम में लग जाओ।' इस पर विद्यार्थियों ने मेरा मत पूछा। मैंने उनसे कहा : "भू-दान-यज्ञ के आंदोलन में काम न करना हो, तो भी विद्यार्थी कॉलेज छोड़ सकते हैं।" यह सुनकर विद्यार्थियों को मजा आया।

कॉलेज के बाहर ज्ञान-भंडार

सैंतीस साल पहले की बात है। कॉलेज छोड़कर ज्ञान की खोज में मैं बाहर निकला। कॉलेज में और बहुत-सी बातें दिखाई दीं, लेकिन ज्ञान नहीं दिखाई दिया। पर कॉलेज छोड़ने के बाद ज्ञान के अनंत द्वार खुल गये।

मेरी ज्ञान की उपासना आज तक जारी है। ज्ञान के समान

पवित्र और कुछ नहीं है, ऐसा ही मैं मानता आया हूँ। इसलिए कॉलेज में जो कालक्षेप होता था, उसे मैं सह नहीं सका। विद्यार्थियों से मेरा हमेशा ही परिचय रहा है और पाठशालाओं में क्या-क्या सिखाया जाता है, इसकी मैं हमेशा जाँच-पड़ताल किया करता हूँ। सैंतीस साल पहले शिक्षा के नाम पर जो खाद्य हमें दिया जाता था, लगभग उसी नमूने का खाद्य आज भी दिया जाता है। उस वक्त हमारा देश पराधीन था, आज स्वाधीन हो गया है।

देश में एक तरफ करोड़ों लोग जड़-कर्म कर रहे हैं, दूसरी तरफ लाखों विद्यार्थियों को कर्मशून्य मूढ़ शिक्षा दी जा रही है। हुक्काम और हुक्मी——सिर्फ हुक्म करनेवाले और सिर्फ हुक्म माननेवाले——इस तरह के दो वर्ग बन गये हैं। दैन्य, दारिद्र्य और दुःख का सुकाल हो रहा है। चालू शिक्षण-पद्धति जब तक नहीं बदलती, तब तक इस स्थिति में सुधार होनेवाला नहीं है।

——'सेवक', जून १९५३

विद्या का विनोद : ६ :

कई बार हम लोगों का पड़ाव पाठशालाओं में हुआ करता है। छोटे-से गाँव में पाठशाला ही एक अच्छी इमारत होती है। वहाँ हम लोगों को ठहरने की सुविधा हो जाती है और बच्चों को भी आनंद आता है। उन्हें एक छुट्टी मिल जाती है।

छुट्टियों की खैरात

आज जिस कक्षा में हमारा पड़ाव था, वहाँ पाठशाला की इस वर्ष की छुट्टियों की तालिका टँगी थी। छोटे-बड़े कुल चालीस त्योहारों की ५५ छुट्टियों का हिसाब लगाया गया था। हमारे आने की छुट्टी ५६वीं रही। हमारे देश में अनेक धर्म हैं। उन-उन धर्मों के अनेक सत्पुरुष हुए हैं और उन-उन सत्पुरुषों के अनेक अभिमानी व्यक्ति हैं। इन सबको मिलाकर छुट्टियों की खैरात बँटती है। फलस्वरूप बच्चों के पल्ले सहज ही सर्व-धर्म-समभाव पड़ जाता है।

जन्म-मृत्यु

और जन्म-मृत्यु भी समान हो जाते हैं। मुझे याद आता है कि हम लोगों के बचपन में बादशाह के मरने पर एक दिन की छुट्टी होती थी और उसके जन्म-दिन पर छुट्टी तो थी ही। जैसे हिन्दूधर्म में बरही को मीठा खाना और तेरही को भी मीठा खाना। कोई जिये या मरे, मुँह सदैव मीठा हुआ करेगा।

जयन्तियाँ

ये छुट्टियाँ उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग ने दी हैं। मजे की बात यह है कि उत्तर प्रदेश के सर्वजनप्रिय सन्त तुलसीदास, सूरदास और कबीरदास के नाम पर छुट्टियाँ नहीं दी गयीं। नहीं तो विद्यालय में यानी 'विद्या के लय में' और भी वृद्धि हो जाती। हाँ, नानक और गुरु गोविन्दसिंह के नाम पर छुट्टियाँ अवश्य हैं। बुद्ध, महावीर, मुहम्मद आदि के नाम पर तो छुट्टियाँ

होंगी ही। जिनके नाम पर झगड़े खड़े हो सकते हैं अथवा जिनके अपने मतवालों के संघ हैं या जो सौतियाडाह पर उतारू हैं, उनके नाम पर छुट्टियाँ द दीं, बस; झगड़ा समाप्त!

ग्रहण पर भी छुट्टी

इस साल चन्द्र-सूर्यग्रहणों की ३ छुट्टियाँ हैं। ग्रहण हो या न हो, चन्द्र-सूर्य की गति में रुकावट नहीं पड़ती। पर श्रद्धालु लोगों ने खोज की है कि ग्रहण से उनकी गति थोड़ी देर के लिए कुण्ठित हो जाती है। उसका फायदा छात्रों तथा शिक्षकों को मिल जाता है। 'भोजन के बाद दोपहर को थोड़ी देर अवश्य सोना चाहिए' यह बतलाते हुए एक सज्जन मुझसे कह रहे थे कि 'सूर्य भी दोपहर को थोड़ी देर विश्राम करता है।'

रविवार की छुट्टी

ईश्वर ने छह दिनों में सृष्टि की और थककर सातवें दिन उसने आराम किया। तभी से किसी सम्प्रदाय में शुक्रवार को, किसीमें शनिवार को और अब तो सर्वत्र रविवार को हक की छुट्टी करार दी गयी है। पर भोजन की छुट्टी कभी नहीं हुआ करती, कारण उससे थकान जो नहीं आती। कुछ लोग कहते हैं कि मैं रविवार को भरपेट भोजन करता हूँ, क्योंकि उस दिन खाने के बाद सोने की भरपूर सुविधा मिलती है। अन्य दिनों कचहरी जाना पड़ता है। इसलिए पेट में डाल लिया तो डाल लिया, नहीं तो नहीं ही डाला। रविवार को खाने के लिए ईश्वर की नजीर नहीं, कारण उसे केवल विश्राम की

ही गरज थी, खाने की नहीं। हमें दोनों की गरज है, इसलिए हम लोग ईश्वर से एक कदम आगे हैं !

इसमें शक नहीं कि छुट्टी भी आनन्दवर्द्धक वस्तु है और भोजन करना भी। इसका कारण बतलाने की जरूरत नहीं। पर छुट्टी लेने पर खाना कैसे मिले ? इसी एक भारी समस्या पर आज हमें विचार करना है। जब काम करने पर भी भरपेट खाना नहीं मिलता, तो काम छोड़ने पर वह कैसे मिल सकेगा ?

गर्मी के दिनों में

त्योहारों और रविवार की छुट्टियों के सिवा गर्मी की लम्बी छुट्टियाँ इस देश के लिए अंग्रेजों की देन है। 'विद्या और अविद्या, दोनों मिलकर पूर्ण साधना बनती है'—उपनिषद् की इस शिक्षा से गर्मी की छुट्टी का अच्छा मेल बैठता है। अविद्या को एक साथ तीन माह का मौका मिलता है। बच्चों को नाहक सिर पर लादी गयी विद्या को उठाकर पटक देने का अवसर मिलता है। विद्या देवी शत-प्रतिशत अंक मिले बगैर किसीको पास नहीं कर सकती, पर विद्या और अविद्या, दोनों के मिल जाने से ३३ प्रतिशत से ही काम चल जाता है।

शिक्षकों के काम के घंटे

नागपुर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक कहते हैं : "सप्ताह में २० घण्टों से अधिक पढ़ाना हम लोगों के लिए संभव नहीं।" प्रान्त की सरकार उनसे कहती है : "आज देश को अधिक श्रम की जरूरत है, आप लोग सप्ताह में २४ घंटे देते चलिए।" इस

विवाद का कैसा अन्त हुआ, पता नहीं। पर दोनों पक्ष १८ घटे कबूल कर लें, तो विवाद मिट सकता है। सप्ताह के दिन छह और रोज के घण्टे तीन—छहतियाँ अठारह—इस तरह हिसाब ठीक बैठ सकता है। १८ का अंक इतना शुभ है कि उसे व्यासजी की भी सम्मति मिल जायगी। हाँ आज के घण्टे की तरह शिक्षकों का घण्टा भी पूरे साठ मिनटों का हो, यह आग्रहमात्र कोई न करे। कारण किसी एक विषय पर बच्चों के मन की एकाग्रता टिकने के बारे में अभी तक का अनुभव साठ मिनट के घण्टे के अनुकूल नहीं है। धार्मिकों ने यह निर्णय दिया है कि नवीन विषय नये मुहूर्त पर शुरू करना चाहिए । मुहूर्त यानी दो घड़ी या अड़तालीस मिनट। इस निर्णय के अनुसार चालीस से पचास मिनट के दरमियान कहीं भी घण्टा हुआ करता है!

शिक्षक और शरीर-श्रम

सप्ताह में २० घण्टे से ज्यादा पढ़ाना संभव नहीं, यह बात मैं भी सहज ही मान सकता हूँ। कारण पढ़ाने में मस्तिष्क, फुफ्फुस और गले को कितनी मेहनत करनी पड़ती है, इसका मुझे अनुभव है। इन दिनों मैं एक घण्टे से अधिक पढ़ाने की मजदूरी नहीं कर सकता। अगर ईमानदारी से और विश्वासपूर्वक पढ़ाया जाय, तो ऐसा ही अनुभव आयगा। फिर भी यह सुझाव मानने में तो कोई अड़चन न होनी चाहिए कि प्रतिदिन तीन घण्टे पढ़ाया जाय और तीन घण्टे कोई भी उत्पादक-श्रम किया जाय। पर चूँकि शरीर-श्रम शिक्षक का धर्म नहीं माना गया, इसलिए स्वधर्मनिष्ठ शिक्षक इस बात के लिए सहसा तैयार न होंगे।

मैंने यह लेख विनोद में लिखा है, पर मैं इसमें मजदूर की वेदना छिपा नहीं सका। इसके लिए मैं विवश हूँ।

—'सेवक', जुलाई १९५२

संस्कृत शिक्षा भी अंग्रेजी में : १० :

घानी के बैल

परसों वत्सला मिलने के लिए आयी थी। आजकल वह कॉलेज में पढ़ रही है। कौन-कौन विषय वह सीख रही है, इसकी चर्चा निकली, तो मालूम हुआ कि बंबई प्रान्त में सब विषय अंग्रेजी द्वारा ही सिखाये जाते हैं। वह कहती थी कि वही माध्यम शायद दस साल तक जारी रहेगा। मैं नहीं जानता कि उसका यह कहना कहाँ तक ठीक है। किन्तु अभी तक अंग्रेजी माध्यम चल रहा है, यह मैं जानता तो था, पर संस्कृत भी अंग्रेजी में सिखायी जा रही है, यह सुनने के लिए मैं तैयार नहीं था। यानी अब सिर्फ मातृभाषा भी अंग्रेजी के जरिये नहीं पढ़ायी जाती, यह गनीमत ही है। अंग्रेजी के जरिये संस्कृत सिखाना कितना विचित्र है, यह सब महसूस कर सकते हैं। लेकिन बरसों से यह चल रहा है। मुझे इसका पता नहीं था कि आज भी वैसे ही चलता है। जो लोग पढ़ाते हैं, वे क्या यह नहीं सोच सकते कि संस्कृत का हमारी मातृभाषा से कितना निकट का संबंध है। उसके जरिये संस्कृत पढ़ाने से यह काम कितना आसान और रसमय हो सकता है। उसे और भी रसमय

बनाना चाहें, तो संस्कृत के जरिये भी संस्कृत सिखायी जा सकती है। लेकिन अंग्रेजी के जरिये पढ़ाना तो समझ में ही नहीं आ सकता। इसका अर्थ यही है कि परंपरा छोड़ने के लिए लोग तैयार नहीं हैं। उपमा अच्छी नहीं है, पर साफ है कि घानी के बैल की तरह परंपरा में हम लोग फँसे हैं।

संस्कृत किसलिए सीखते हैं ?

वत्सला से यह भी मालूम हुआ कि पाठ्यक्रम में संस्कृत का जो साहित्य रखा गया है, वह इतना शृंगारपूर्ण है कि कक्षा में उसकी चर्चा असंभव-सी है। छत्तीस साल पहले मैं बड़ोदा कॉलेज में था। तब वहाँ संस्कृत के विद्यार्थियों को ऋतुसंहार, मेघदूत आदि पढ़ाया जाता था। भगवान् की कृपा से मैंने कॉलेज में संस्कृत के स्थान पर फ्रेंच ली थी। इसलिए उन सारी वेदनाओं से मैं बच गया। लेकिन यह भी सोचना चाहिए कि हम संस्कृत किस-लिए सीखते हैं। विवेकानन्द ने कहा था : "अगर वेदान्त का प्रचार करना चाहते हो, तो लोगों को संस्कृत सिखा दो। तुम्हारा काम हो जायगा।" अर्थात् विवेकानन्द के खयाल से संस्कृत यानी वेदान्त। गीता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ संस्कृत का जिन्दा साहित्य हैं। लेकिन कॉलेजों की जड़-परंपरा को यह जिन्दा साहित्य नहीं भाता। लोकलाज के मारे बी० ए० के लिए वे कुछ रख लेते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से ही

आजकल जो साहित्य संस्कृत के नाम से पढ़ाया जाता है। उतना ही साहित्य अगर संस्कृत में होता, तो मैं संस्कृत सीखता

ही नहीं। संस्कृत में नाटक, उपन्यास आदि भी हैं। लेकिन वह संस्कृत की विशेषता नहीं है। आधुनिक भाषाओं में ऐसा साहित्य विपुल है। उसके लिए खास संस्कृत सीखने की प्रेरणा क्यों होनी चाहिए? आध्यात्मिक दृष्टि से ही संस्कृत सीखने की प्रेरणा हो सकती है या तो फिर भाषा-शास्त्री संस्कृत सीखते रहेंगे। लेकिन हम आम जनता की दृष्टि से सोचते ही नहीं, इसलिए यह हमें सूझता नहीं है।

—'सेवक', दिसम्बर १९४९

छुट्टी का समय बदलिये : ११ :

हिंदुस्तान में हजारों वर्षों से अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है, पर पाठशालाओं को लंबी छुट्टी देने की योजना किसीको नहीं सूझी। अंग्रेजी विद्या शुरू होने के साथ ही शिक्षा में छुट्टियों का प्रवेश हुआ। पहले साधारणतः सप्ताह में एक दिन अनध्याय होता था। इसके सिवा शिष्टों का आगमन और विशेष प्रसंग अपवाद माने जाते थे। पर अब तो साल भर में जैसे-तैसे ६-७ महीने पाठशाला चलती है। चूँकि आज की पाठशालाएँ बन्दी-गृह-सी बन गयी हैं, इसलिए छुट्टियों की आवश्यकता स्पष्ट है। यानी उस बारे में शिकायत करने का कोई कारण ही नहीं।

छुट्टियाँ बरसात में हों

पर लम्बी छुट्टियाँ यदि देनी ही हों, तो कब दी जायँ, इस सम्बन्ध में पुनर्विचार होना जरूरी है। ऐसी छुट्टियाँ आजकल

गर्मी के दिनों में देने की चाल चल पड़ी है। यहाँ की गर्मी साहबों के लिए असह्य थी, इसीलिए उन्होंने गर्मी में यह छुट्टी रखी। उन दिनों वे ठंढी जगह में जमकर रहते थे, पर अब तो उसका कोई सवाल ही नहीं। साहब तो अब हिंदुस्तान छोड़कर सदा के लिए इंग्लैण्ड की ठंढी हवा में रहने के लिए चले गये हैं। इसलिए अब से गर्मी की छुट्टी बदलकर बरसात में कर देना ठीक होगा। बरसात में किसानों के खेतों में गोड़ाई होती ह, उस समय बच्चे खेतों पर काम कर सकेंगे। एक साथ डेढ़-दो माह की छुट्टी न देकर गोड़ाई का समय देखकर हर बार १५-१५ दिन की छुट्टी दी जा सकती है। गर्मी में दिन बड़ा होता है। उस समय खेतों में भी काम नहीं रहता। उस समय छुट्टी देने का मतलब है, बच्चे या तो धूप में इधर-उधर भटकें या घर पर लम्बी तानें, इसके सिवा दूसरी कोई गति नहीं। इसलिए यह परिवर्तन अत्यावश्यक है। साहबों का राज्य तो चला गया और अब किसानों का राज्य आ गया है। यह बात सबको ध्यान में रखनी चाहिए।

—'सिंहावलोकन'

कौटुम्बिक पाठशाला　　　　: १२ :

विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। इसका उपाय यह है कि एक

ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे। इस लेख में शालीन कुटुम्ब के सम्बन्ध में विचार नहीं करना है, कौटुम्बिक शाला के सम्बन्ध में थोड़ा दिग्दर्शन कराना है।

छात्रालय अथवा शिक्षकों के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उस पर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुम्बिक शाला है। ऐसी कौटुम्बिक शाला के जीवनक्रम के सम्बन्ध में—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाएँ इस लेख में करनी हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) ईश्वर-निष्ठा संसार में सारवस्तु है। इसलिए नित्य के कार्यक्रम में दोनों समय सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप संत-वचनों की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना में एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। "सर्वेषामविरोधेन" यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

(२) आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट संबंध है, इसलिए आहार सात्त्विक होना चाहिए। गरममसाला, मिर्च, तले पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइये से रसोई नहीं

बनवानी चाहिए। रसोई की शिक्षा भी शिक्षा का एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालों के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको वह आनी चाहिए। स्वावलम्बन का वह एक अंग है।

(४) कौटुम्बिक पाठशाला को अपने पाखाने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसी भी मनुष्य से छुआछूत न मानना ही नहीं है, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अंत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढंग का अभ्यास है।

(५) अस्पृश्यों सहित सबको मदरसे में स्थान मिलना चाहिए। यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशाला में भोजन में पंक्तिभेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धि का नियम रखना काफी है।

(६) स्नानादि प्रातःकर्म सबेरे ही कर डालने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेद से अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंढे पानी से करना चाहिए।

(७) प्रातःकर्मों की तरह सोने से पहले के 'सायंकर्म' भी जरूर होना चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्म का गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्य से संबंध है। खुली हवा में अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षा के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योग में देने ही चाहिए।

इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं हो सकता। "कर्मातिशेषेण" अर्थात् काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

(९) शरीर के तीन घंटे उद्योग में लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करने का नियम रखने के बाद दोनों समय व्यायाम करने की जरूरत नहीं है। फिर भी एक समय अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातने को राष्ट्रीय धर्म तथा प्रार्थना की भाँति नित्यकर्म में गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घंटा समय देना चाहिए। इस आधे घंटे में तकली का उपयोग करने से भी काम चल जायगा। कातने का नित्यकर्म यात्रा में या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो, तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपड़े में खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहाँ तक संभव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(१२) सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है, पर मौज के लिए या ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात्रि-जागरण निषिद्ध है। नींद के लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

(१३) रात को भोजन नहीं करना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा, तीनों दृष्टियों से इस नियम की आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयों में संपूर्ण जाग्रति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कौटुम्बिक शाला के जीवन-क्रम के सम्बन्ध में ये चौदह सूचनाएँ दी गयी हैं। इनमें किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा के पाठचक्रम के बारे में ब्योरा नहीं दिया गया है। उस बारे में लिखना होगा, तो स्वतंत्र रूप से लिखना पड़ेगा।

—'मधुकर' से

पद्धति-पंचक : १३ :

घड़ा और मिट्टी एक है या दो? आप अगर 'दो' कहेंगे, तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिये और अपना घड़ा ले जाइये। घड़ा और मिट्टी 'एक' है, ऐसा अगर आप कहेंगे, तो वह मिट्टी का ढेर पड़ा है, भरिये पानी। मिट्टी और घड़े के इस सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। वर्धा शिक्षण-पद्धति को मैंने 'समवाय-पद्धति' नाम दिया है, क्योंकि इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण का इस तरह का 'समवाय' गृहीत है।

बच्चों के सारे शिक्षण की रचना किसी एक मूल-उद्योग पर खड़ी की जाय। उद्योग से शिक्षण को गरमाहट मिले और शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जाय। इसका नाम है, 'समवाय-पद्धति।'

औद्योगिक शिक्षा एक अलग चीज है। उसमें सिर्फ उद्योग सिखाया जाता है। वह मिट्टी का ढेर है। किताबी पढ़ाई

अलग चीज है, उसमें सिर्फ ज्ञान दिया जाता है। वह घड़े का चित्र है! देख लीजिये, लेकिन पानी भरने के काम का वह नहीं।

केवल-पद्धति

प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों में मानव के विविध अंगों में से केवल एक अंग—बुद्धि की ओर ध्यान दिया गया है। वह भी उसके विकास के बदले विलास करनेवाला है। चूँकि इस पद्धति में केवल बुद्धिविलास की ओर या उसके प्रोत्साहकों की भाषा में केवल शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया, इसलिए मैं उसे "केवल-पद्धति" कहता हूँ। इस पद्धति के अन्य अनेक दोष छोड़ दिये जायँ, तो भी शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि उसमें बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है, जिससे वह ठूँस-ठूँस-कर भरना पड़ता है। फलस्वरूप वह ठीक से याद नहीं रहता, जीवन के साथ समरस नहीं हो पाता। इसके सिवा ऐसी शिक्षा से बेकारी भी बढ़ती है।

परिशेष-पद्धति

दूसरी पद्धति है:—"परिशेष-पद्धति।" जिस तरह किसी ग्रन्थ का परिशिष्ट होता है, उसी तरह शिक्षा के परिशिष्ट-रूप में इसमें उद्योग को स्थान दिया जाता है। इस पद्धति में उद्योग के शामिल होने पर भी उसका महत्त्व पूँछ सरीखा ही माना जाता है। इसके सिवा उद्योग एक मनोरंजन, खेल या अलंकार के रूप में अपनाया जाता है। शिक्षा का श्रम मिटाने या प्रदर्शन-भर ही उसका उपयोग किया जाता है।

समुच्चय-पद्धति

तीसरी पद्धति "समुच्चय-पद्धति" है। इस पद्धति में उद्योग और शिक्षा, दोनों को समान महत्त्व देने का प्रयत्न किया जाता है। यानी ज्ञान के लिए जितना समय दिया जाता है, उद्योग के लिए भी उतना ही। मिट्टी पानी का अर्थ घड़ा नहीं है। दोनों को मिलाकर कुम्हार जब उसमें अपनी कला उँड़ेलता है, तब घड़ा तैयार होता है। समुच्चय-पद्धति में शिक्षा पानेवाले को सन्तोष नहीं होता। उसे ऐसा लगता है कि मेरा शिक्षा का समय व्यर्थ ही उद्योग में बीता जा रहा है। वह कभी लाचार होकर उद्योग करता है। कभी स्वार्थवशात् और कभी शिक्षा कहकर। चूँकि इस पद्धति में उद्योग शिक्षा के अंग के रूप में समाविष्ट नहीं किया जाता, इसलिए उसके प्रति उपजीविका के साधनमात्र की दृष्टि रहती है। इस दृष्टि से उसकी प्रतिष्ठा शिक्षा की अपेक्षा कम ही है। इसलिए उद्योग करते हुए भी उसे उसमें उतनी रुचि नहीं मालूम पड़ती। इसके सिवा शिक्षा और उद्योग, इन दोनों का परस्पर मेल नहीं बैठता। शिक्षा में चल रहा होगा 'शाकुंतल' या अफ्रीका का भूगोल और उद्योग में उसे आवश्यक होगी बढ़ई-गिरी की, लकड़ी के भूगोल की जानकारी। इस कारण दोनों के विषय एक-दूसरे के पूरक नहीं हो पाते।

संयोजन-पद्धति

उपर्युक्त तीनों पद्धतियों से भिन्न 'संयोजन' नाम की एक पद्धति शिक्षण-शास्त्री जानते हैं। 'कर्म द्वारा ज्ञान' यह समवाय-पद्धति का सूत्र इसमें मान लिया है, लेकिन इस पद्धति में कर्म को

गौण स्थान दिया है। कुछ ज्ञान देना है, तो उसके अनुकूल एक संयोजन लेकर पढ़ाया जाता है। लेकिन वह कृत्रिम-सा होता है।

समवाय-पद्धति

समवाय-पद्धति में किसी एक जीवनव्यापी और विविध अंगयुक्त मूल-उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। यह उद्योग शिक्षण का सिर्फ एक साधन नहीं, बल्कि उसका अविभाज्य अंग रहता है। उस उद्योग के द्वारा इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है : (१) बच्चे की सब तरह की शक्तियों का विकास करना, (२) बच्चे को जीवनोपयोगी विविध ज्ञान देना और (३) बच्चे को आजीविका का एक समर्थ साधन मुहैया करना। इस उद्देश्य की पूर्ति का एक छोटा-सा लकिन महत्त्व का सबूत यह है कि बच्चों के काम में से पाठशाला के शिक्षण के खर्च का कुछ अंश निकले, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

इस तरह समवाय-पद्धति प्रचलित सारी शिक्षण-पद्धतियों से भिन्न और अब तक के अनुभवों की निष्कर्षरूप अंतिम परिणति है।

इस पद्धति में जो मूलोद्योग चुना जाय, वह व्यापक और विविध अंगयुक्त होना चाहिए, यह बात ऊपर कही ही गयी है। हिंदुस्तान की आज की हालत देखते हुए ८० प्रतिशत पाठशालाओं में ऐसा जो मूलोद्योग शुरू किया जा सकता है, वह मेरी राय में कातने का ही हो सकता है। ७ साल की उम्र के बच्चों को ध्यान में रखकर मैं यह कह रहा हूँ।

—'मूल उद्योग कातना' में कुछ परिवर्तन करके

मूलोद्योग के चुनाव में विवेक : १४ :

हमारी संस्कृति की खासियत

आज यह सवाल पूछा गया है कि बुनियादी शालाओं में "पोल्ट्री (मुर्गी-पालन) और फिशरी (मत्स्य-उत्पादन) उद्योगों को मूल उद्योग के रूप में लिया जा सकता है क्या ?" अब यह एक ऐसा विषय है कि जो हिंदुस्तान में ही उठता है, दुनिया के और किसी देश में नहीं उठता। यह हिंदुस्तान की बदकिस्मती नहीं, बल्कि इसमें हमारी संस्कृति का इतिहास संचित है।

अहिंसा का विचार रखनेवाले लोग दो तरह की दृष्टियाँ इस विषय में रख सकते हैं। दोनों अहिंसक हो सकते हैं और दोनों अपने निर्णय अलग-अलग दे सकते हैं। एक मिसाल देता हूँ। काकासाहब की अहिंसा पर उतनी ही श्रद्धा है, जितनी मेरी; और मांसाहार को मैं जितना निषिद्ध मानता हूँ, उतना ही वे भी मानते हैं। उन्होंने 'फिशरी' के विषय में एक लेख लिखा है। उसमें यह कहा गया है कि "फिशरी एक ऐसा धंधा है, जिसमें शिक्षणविषयक आवश्यकताएँ बहुत-सी हैं और 'बेसिक क्राफ्ट' के तौर पर उसे अच्छी तरह चलाया जा सकता है" मैं मानता हूँ कि 'बेसिक क्राफ्ट' के लिए जिन कुशलताओं की आवश्यकता है, वे सभी उस धंधे में मिलती होंगी और उसके इर्द-गिर्द कई तरह के ज्ञान हम दे सकते हैं, जैसे दूसरे धंधों में भी दे सकते हैं। कुछ लोग कहेंगे कि आज यह धंधा क्रूर पद्धति से चलाया जाता है। यदि यह अधिक शास्त्रीय रीति से चलाया जाय, तो प्राणियों को

कम-से-कम तकलीफ होगी। अगर यह धंधा बच्चों को सिखाया जाता है, तो इसमें क्या दोष है ?

क्या मछली मारना मूलोद्योग है ?

मैं जब इस धंधे के बारे में सोचता हूँ, तो इस उद्योग द्वारा बच्चों को विद्या देने की तैयारी अपने में नहीं पाता। क्योंकि तब मुझे बच्चों को यह सिखाना होगा कि उसके लिए इस तरह से एक हुक बनाओ। फिर यह भी बताना होगा कि उसमें किस तरह से माँस लगाओ। आमिष इसलिए कि वह मछली उसे खाने के लिए आकृष्ट होकर आये अर्थात् यह उसे ठगने की बात है। उसे तो यह बताना है कि हम तुम्हें कुछ खिला रहे हैं। वह बेचारी खाने के लिए हुक पकड़ती है और हम फौरन उसे पकड़कर अपने कब्जे में ले लेते हैं। इसमें सब तरह से असत्य भी आया और हिंसा भी। तब मेरे लिए यह बहुत कठिन काम हो जायगा और बच्चों को इस तरह से तालीम देना मुझसे नहीं बनेगा। मैं बच्चों को किस तरह समझाऊँगा कि इस तरह फुसलाना और ठगना भी मानवीय-सत्य में आता है। याने फिर मानवीय-सत्य और अन्य सत्य, इस तरह का एक भेद हमें करना पड़ेगा। हिंसा को तो खैर एक दफा मैं कबूल भी कर लूँ, पर असत्य कबूल करना मेरे मन के लिए असह्य है। अब कोई ऐसी राह बता सकता है कि जिससे उन मछलियों को ठगने की भी जरूरत न पड़े और ज्यादा तकलीफ भी न हो और वे हमारे हाथ में आ जायँ। फिर भी बच्चों के शिक्षण में ऐसी चीज रखना मैं उचित नहीं मानूँगा। इन प्राणियों में भावनाओं का स्पष्ट ज्ञान मुझे दिखाई पड़ता है।

मैं खाने के लिए कुछ चीज देता हूँ, तो मछली फौरन प्रेम से खाने के लिए मेरे पास दौड़ आती है। डराता हूँ, तो भाग जाती है। मतलब यह कि वह मेरे प्रेम को समझती है और क्रोध को भी। तो इस तरह की भावना जहाँ मैं स्पष्ट देखता हूँ, वहाँ उनकी हत्या करने की बात मैं किस तरह बच्चों को समझा सकूँगा, यह मेरी समझ में नहीं आता।

यह तो हुई मछली मारने की बात। मुर्गी पालने के उद्योग के बारे में मेरा वैसा विरोध नहीं है। उसमें और भी दूसरी बातें हैं। उस बारे में मैं यहाँ ज्यादा नहीं बताऊँगा। जो चीज मुझे 'फिशरी' क लिए लगती है, वह 'पोल्ट्री' के लिए नहीं लग रही है। वह उससे भिन्न है। यही मुझे कहना है।

अहिंसाधिष्ठित मूलोद्योग

किसीने मुझे पूछा कि "समवाय क्या चीज है?" मैंने कहा: "समवाय का अर्थ तो होता है, ज्ञान और कर्म का सम्मिलन।" तो उन्होंने कहा कि "यही अगर है, तो हम अणु-बम के कारखाने में विद्यार्थियों को लगा सकते हैं। तो कर्म भी हुआ और उसके जरिये उन्हें ज्ञान भी दिया जायगा; ज्ञान और कर्म का भेद मिटा दिया जायगा, तो 'समवाय-पद्धति' होगी। क्या आप इसे कबूल करेंगे?" मैंने कहा: "कबूल नहीं करूँगा। समवाय में ज्ञान और कर्म का अभेद आता है, लेकिन वह तो आपका अणु-बम का कारखाना है, उसमें मैं लड़के को नहीं लगाऊँगा; क्योंकि उसमें हमारा सर्वोदय का सिद्धान्त बाधित होता है। ऐसा उद्योग नयी तालीम में नहीं चलेगा।" तो उन्होंने कहा कि "तो तुम

समवाय का अर्थ यह करो कि जहाँ ज्ञान और कर्म का भेद मिट जाता है और जहाँ साध्य और साधन शुद्ध होता है।" यह सुनकर मुझे बहुत खुशी हुई और वह बात मैंने स्वीकार कर ली। हमारे समवाय में हमारे साधन और साध्य, दोनों की शुद्धि का विवेक रहना चाहिए।

कुछ लोग पूछते हैं कि "तुम जो छोटे-छोटे औजार हाथ में लेते हो, वैसे औजारों से पैदावार क्या होगी ?" मैं उनसे कहता हूँ कि "हिंदुस्तान की हालत क्या है, यह तो देखो। हमारे यहाँ की गरीबी देखो और फिर सवाल पूछो। हमारा यह सारा प्रयास गरीबों के लिए ही है। गाँवों में इतनी गरीबी है कि गाँव-वाले अपने लड़के हमारे यहाँ पढ़ने के लिए नहीं भेजते। लड़के घर पर रहेंगे, तो कुटुम्ब का कुछ भार हलका करेंगे, स्कूल में तो कुछ कमाई होती नहीं। इस हालत में हमें ऐसी पद्धति काम में लानी चाहिए, जिससे वे अपने घर में काम भी कर सकें और स्कूल भी जा सकें।"

हमारे स्कूल द्वारा गरीबों की सेवा हो, यह दृष्टि हम अपने सामने रखें, तो फिर पाँच घंटे पढ़ायें या छह घंटे, एक दफा पढ़ायें या दो दफा, ऐसे सभी प्रश्नों का उत्तर अपने आप मिल जायगा। जिस पद्धति से गरीबों की सेवा हो सकेगी, वही पद्धति नयी तालीम की पाठशाला में चालू होगी। ऐसी पद्धति की पाठ-शालाएँ चालू की जायँगी, तभी वे व्यापक पैमाने पर खोली जा सकेंगी।

• • •

शिक्षा का त्रिसूत्री कार्यक्रम : १५ :

पड़ाव : धमार, २८-९-'५५

(एक पत्र से)

...नयी तालीम के कार्यक्रम में कौन-सा ज्ञान आता है और कौन-सा नहीं आता, इसका कोई बाकायदा विभाग नहीं है। वैसे तो सभी ज्ञान उसमें आ सकते हैं, लेकिन उसकी एक कसौटी है। दस दिन की भूख के लिए जैसे हम आज नहीं खाते, केवल आज की भूख के लिए खाते हैं, वैसे ही बालक के आज के जीवन में जिस ज्ञान की आवश्यकता उत्पन्न होती है, वह ज्ञान उसे आज दें। यह है, ज्ञानार्जन का सूत्र। अन्यथा ज्ञान का परिग्रह होता है। उसका बोझ या तो बच्चा उठाता नहीं, पटक देता है या उससे वह उठवाया जाय, तो उसकी बुद्धिशक्ति पर बेजा बोझ पड़ता है और जीवन-विकास कुंठित होता है।

नयी तालीम की दृष्टि

"नयी" तालीम हम कहते हैं, लेकिन नया उसमें कुछ नहीं है। जिनका उत्तम आत्मविकास हुआ है, उन्होंने ज्ञान और अज्ञान, दोनों का उपकार मानकर दोनों का ठीक संग्रह किया, तभी उन्हें आत्मदर्शन हुआ। यही है, नयी तालीम की दृष्टि।

शत-प्रतिशत ज्ञान

आज की शाला में तैंतीस प्रतिशत अंक मिलने पर पास करने की योजना क्यों बनायी गयी है? इसका कारण स्पष्ट

है। उस योजना के बनानेवालों को मालूम है कि हम बच्चों के सिर पर ऐसा ज्ञान लाद रहे हैं, जिसकी आज उन्हें आवश्यकता नहीं। ऐसी हालत में शत-प्रतिशत की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? लेकिन नयी तालीम में मैं शत-प्रतिशत ज्ञान की अपेक्षा करूँगा।

शिक्षण के योग्य विभाग

भूगोल, इतिहास, गणित, रेखागणित, यों विषयों की गिनती ही करनी हो, तो असंख्य की जा सकती है। यह गिनती किसलिए? वाणी का विकास, मन का विकास, देह का विकास, बुद्धि का विकास, इन्द्रियों का विकास, ऐसे भाग हो सकते हैं।

प्राचीनकाल में हमारे विचारक पंचभूत मानते थे। आज जो मूलतत्त्वों का पता लगा है, वह उन पंचभूतों को काट नहीं सकता। वे पंचभूत दृश्य के पृथक्करण में से निकले हुए नहीं हैं, दर्शन के पृथक्करण में से निकले हैं। जब हमें पाँच इन्द्रियाँ हैं, तब तक हमारा दर्शन पंचविध रहेगा। सृष्टि में पंचभूत ही कायम रहेंगे। तात्पर्य यह कि हमें नाना विषयों को या नाना ग्रंथों को सजाना नहीं है, बच्चों को सजाना है। अर्थात् उनके मन, बुद्धि आदि को सजाना है।

बच्चे खाते-पीते हैं, बीमार होते हैं। इसलिए खाने-पीने का शास्त्र, रोग-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र स्पष्ट ही उनके लिए आवश्यक है।

नयी तालीम के स्वाभाविक विषय

तुम्हारे बच्चे गोशाला में काम करते हैं, दूध पीते हैं, तो उन्हें उस विद्या को जान लेने की इच्छा और आवश्यकता, दोनों है। भाषा उन्हें उत्तम आनी ही चाहिए। व्यावहारिक गणित की आवश्यकता कोई टाल नहीं सकता। एक-दूसरे के साथ कैसा बर्ताव करें, इसका ज्ञान न रखनेवालों की गिनती पशु में ही होगी। इसलिए नीति-विचार, धर्म-विचार छोड़ नहीं सकते। इतिहास के नाते किशोरलालभाई की जानकारी तुम्हारे बच्चों को अवश्य रहनी चाहिए। कैसर या सीजर की जानकारी की उन्हें आवश्यकता नहीं है। गोपुरी का चर्मालय कैसे बना, वाळुंजकरजी ने चमड़ा कैसे खींचा, साँप पकड़ने की कला भाऊ को कैसे हासिल हुई, मनोहरजी को महारोगियों की सेवा की कल्पना कैसे आयी—इन सब बातों की जानकारी होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि अन्यकाल या अन्यस्थल का ताल्लुक नयी तालीम में कहीं नहीं आयगा। वह भी आ सकता है, लेकिन उसका प्रसंग और उसकी आवश्यकता खड़ी होगी तब।

नयी तालीम का त्रिविध ज्ञान

झूले से लेकर श्मशान तक का सभी ज्ञान नहीं देते रहना है। आज का आवश्यक ज्ञान दें और समय-समय पर जिस ज्ञान की आवश्यकता होगी, उसके सम्पादन करने की शक्ति हासिल करायें और अंदर छिपा हुआ स्वयंभू ज्ञान बाहर निकालें, ऐसा तिहरा कार्यक्रम है : (१) प्रकृत ज्ञान, (२) ज्ञानशक्ति-संपादन

और (३) आत्मज्ञान, यों हम इन्हें नाम दें। यह सारी दृष्टि ही निराली है। आज की नीरस-पद्धति से उसका मेल कैसे हो?

—'सेवक', जनवरी १९५३

तुलना असंभव

(एक पत्र से)
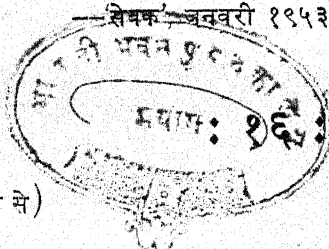
ऐसी स्थिति पैदा हो जानी चाहिए कि सोलहवें साल में यानी मौलिक पाठ्यक्रम के अन्त में तैयार हुए अपने बच्चे की सरकारी स्कूल से तुलना करने की आवश्यकता ही प्रतीत न हो।

जहाँ यह अपना बच्चा अध्यात्म-विद्या-सम्पन्न रहेगा, वहाँ उसे (स्कूली शिक्षा-प्राप्त बच्चे को) उसकी गन्ध तक न होगी। यह एक उद्योग-धन्धे में कुशल रहेगा, तो वह सर्वथा निरुद्योगी। यह सभी व्यवहारों में दक्ष रहेगा, तो वह व्यवहारशून्य। इसके सामने पराक्रम के क्षेत्र खुले रहेंगे, तो उसकी आँखों के सामने अँधेरा छाया रहेगा। यह संशोधक होगा, तो वह संशोध्य।

दिशा-दर्शन : १७ :

गोसाईगंज, २९-४-'५२

(एक पत्र से)

बिलकुल छोटे बच्चों को एक ही विषय देने से काम नहीं चलेगा। साथ ही उन पर अनेक विषयों का बोझ लादना भी

व्यर्थ है। उनके लिए विषय एक ही हो, "जीवन-विकास।" उसके तीन अंग हैं : वाणी, शरीर और मन।

१. वाणी के लिए अच्छे भजन, कविता आदि मधुर कंठ से और स्वच्छ उच्चारण से पढ़ना तथा अर्थ का सामान्य ज्ञान। वाचन, वाक्प्रकाशन और सत्य-प्रिय, संयत वाणी का अभ्यास।

२. शरीर के लिए खुली हवा में उद्योग, अदल-बदलकर दिनभर कुछ-न-कुछ काम। खेल, हित-मितयुक्त आहार, दिन-चर्या, ऋतुचर्या, निसर्गोपचार का ज्ञान और तदनुसार उचित आचरण।

३. मन के लिए कैसा व्यवहार-बर्ताव हो, सबके लिए उपयोगी कैसे बनें, देहेंद्रिय पर अंकुश कैसे रखें, हम देह से भिन्न हैं, इस वस्तु का ज्ञान। अड़ोस-पड़ोस के समाज की और सृष्टि की जरूरी जानकारी।

इस तरह थोड़े में यह शिक्षण का स्वरूप है। बच्चे और शिक्षा, दोनों का सम्मिलित जीवन होना चाहिए।

तीन मुख्य बातें

किसी एक भाषा का उत्तम ज्ञान, काम चलाने भर के लिए आवश्यक गणित का अचूक ज्ञान और किसी एक उद्योग में मग्नता, ये तीन मोटी बातें होनी चाहिए।

समवाय की चिन्ता नहीं

उद्योग-मूलक ज्ञान यानी उद्योग का ज्ञान के साथ मेल बैठाना। इसकी चिंता करते-करते लोग हैरान हैं। लेकिन आप

उसकी चिंता न करें। बुनाई का 'ज्ञानेश्वरी' के साथ क्या संबंध है, इस तरह की बहस में हम न पड़ें। ढेर किताबों की आवश्यकता नहीं है। लेकिन जिस ग्रंथ ने सारे समाज को पकड़ रखा है, उसका उद्योग के साथ क्या संबंध है, यह आशंका "माता का बच्चे से क्या संबंध है" के जैसी है। ज्ञान कच्चा कतई नहीं रहना चाहिए। आचरणयुक्त ज्ञान कच्चा रह ही नहीं सकता।

शिक्षक का आश्रम

शिक्षक का आश्रम यानी वानप्रस्थाश्रम। उस दिशा में जितनी तेजी से प्रगति होगी, उतना ही बच्चों का शिक्षण भी सही तौर पर बुनियादी होगा। ...

गुण-विकास के अंग : १८ :

१. बिना कारण न डरें। भय लगे, तो भगवान् का नाम लें। भगवान् के नाम के सामने भय टिक ही नहीं सकता।

२. अपने हाथों होनेवाली गलतियाँ रोज-की-रोज सुधारी जायँ। बीते कल की गलतियाँ आज न हों और आज की गलतियाँ आगामी कल न हों, इसका ध्यान रखें।

३. विचार ठीक से समझ लें। 'समझ में आये हुए विचारों को अमल में लाये बगैर नहीं रहूँगा', इस बात का पक्का निश्चय कर लें।

४. अपनी शक्ति के अनुसार, आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की मदद करते रहें। यह बात कभी न भूलें कि हमें बहुतों से ऐसी मदद मिली है।

५. हर बात में अगुआ न बनें। अपने आपको रोक रखें।

६. कोई-न-कोई उत्पादक-श्रम किये बगैर भोजन न करें।

७. प्रतिदिन कुछ समय नियमित रूप से अध्ययन करें।

८. अपने शरीर से गुरुजनों की सेवा करें।

९. सीधे बैठें, सीधा बोलें और सीधा विचार करें।

१०. किसीसे मार-पीट न करें। किसीका जी न दुखायें।

११. सचाई का बर्ताव करें। सदा सच बोलें।

१२. क्रोध कभी न आने दें। क्रोध आना दुर्बलता का लक्षण है।

१३. हर बात में अपना फायदा न देखें। ध्यान रहे कि संसार हमारे भोग के लिए नहीं है। हम संसार की सेवा के लिए हैं।

१४. गड़बड़, धाँधली और उतावली न करें।

१५. दूसरे का दोष न देखें, गुण ही ग्रहण करें।

१६. दूसरों के दु:ख से दु:खी हों। दूसरों का दु:ख दूर करने के लिए व्याकुल रहें।

१७. किसी तरह का स्वाद न लगने दें। पेटूपन न करें। थोड़े में ही तृप्ति मानें।

१८. उद्धतपन न करें। सबसे मिल-जुलकर रहें। मृदु भाषण करें।

१९. बुरा काम करने में लाज लगे। मर्यादा का उल्लंघन न करें।

२०. हाथ, पैर, आँख आदि अवयवों की अकारण हलचल न करें।

२१. बल के जोर से कोई दबाना चाहे, तो न दबें।

२२. कमजोर आदमी कोई गलती करे, तो उसे क्षमा कर दें।

२३. शरीर को कुछ कष्ट मिले, तो व्याकुल न हों, धैर्य रखें।

२४. स्वच्छता का ध्यान रखें।

२५. किसीसे मत्सर न करें। स्वयं ऊपर चढ़ने के लिए दूसरे को नीचे न गिरायें।

२६. मैं बड़ा हूँ, यह न मानें। इसीमें सच्चा बड़प्पन है।

छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए गीता की दैवी सम्पत्ति के लक्षणों का यह सीधा-सादा और प्राथमिक अर्थ मैंने दिया है। व्यापक अर्थ 'ज्ञानेश्वरी' में बताया ही है।

शिक्षा और उद्योग

पाठशालाओं में गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की जो शिक्षा दी जाती है, उसमें सुधारकर उद्योग का भी समावेश किया जाय, यही हम लोग कहते हैं। जीवन में गणित आदि का उपयोग है, इस बारे में कुछ सन्देह ही नहीं। उद्योग की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। फिर भी इतने से काम नहीं चलता। शिक्षा में मुख्य दृष्टि गुण-विकास की होनी चाहिए। उसीके लिए उद्योग तथा अन्य विषयों की योजना की जाय।

गुण-विकास

विषयों के विभाजन के आधार पर पाठशाला का समय पत्रक (टाइम-टेबल) तय करना तो भूल ही है। बिना उद्योग के गुण-विकास नहीं होता और न गुणों की परख ही होती है। इसलिए उद्योग सिखलाया जाना चाहिए। उससे बालक स्वावलम्बी होता है, यह भी एक गुण ही है। विचार ठीक से उपस्थित करते न बना, तो सही-सही सत्य-रक्षा भी नहीं होती। इसलिए भाषा की शिक्षा भी गुण-विकास के अन्तर्गत आ जाती है। पर इन सबका शिक्षा की दृष्टि से स्वतंत्र मूल्य नहीं है।

—'सेवक', अगस्त १९५३

शिक्षक का आश्रम　　: १६ :

(बोधगया में कार्यकर्ताओं के समक्ष किया गया प्रवचन)

बुनियादी तालीम में उद्योगों के जरिये तालीम देनी चाहिए आदि बातें बहुत जोरों से सामने आती हैं, पर ऐसा नहीं दीखता कि इस बात पर किसीने सोचा या सोचना जरूरी समझा हो कि शिक्षक का आश्रम कौनसा हो।

शिक्षक और गृहस्थ

आज होता यह है कि मैट्रिक-परीक्षा में फेल हुआ कोई लड़का लिया जाता है। उसको बुनियादी तालीम के अनुभव दिलाते हैं और तब वह शिक्षक के तौर पर अपने जीवन का

आरंभ करता है। उसके साथ-साथ वह गृहस्थ के तौर पर अपने गृह-जीवन का भी आरंभ करता है। पर ये दो आरंभ इतने महान् हैं और इतनी बड़ी जिम्मेवारी के हैं कि दोनों एकरूप हैं, इस वास्ते दोनों एक साथ उठाये जा सकते हैं या फिर दोनों पर कुछ अंकुश रखना है, इस वास्ते दोनों एक साथ उठाये जा सकते हैं, इस पर हमें सोचना है। जो हो, परन्तु एक बहुत ही गंभीर विषय हमारे सामने है।

वानप्रस्थी ही शिक्षक हो

बहुत बरसों से इस विषय पर मैं सोचता हूँ, तो इसी निर्णय पर आता हूँ कि शिक्षक का आश्रम वानप्रस्थाश्रम ही है। संन्यासी शिक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि वह सारी दुनिया के लिए है। उसका मुक्त विहार है। खास विद्यार्थियों के लिए उसका जीवन नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्याश्रमी खुद विद्यार्थी है, इस वास्ते उसे भी शिक्षक का आश्रम नहीं कह सकते। बचे दो ही आश्रम, गृहस्थ और वानप्रस्थ। अगर हम यह समझें कि ये दोनों आश्रम शिक्षक के लिए हैं, तो हमारी दृष्टि स्पष्ट नहीं है।

जिसे आप गृहस्थाश्रम कहते हैं, वह अनुभव-संपादन का आश्रम है और जब वह वानप्रस्थ होता है, तब उसे गृहस्थाश्रम में से मुक्त होना चाहिए। पर उस उम्र में वानप्रस्थ नहीं होना चाहिए, जिस उम्र में शरीर, मन, बुद्धि और वाणी, ये सब जीर्ण हो गयी हों। बल्कि तभी वानप्रस्थ हो जाना चाहिए, जब समझ ले कि एक अनुभव मिल चुका है, अब उसे दूसरे को देने की योग्यता आयी है। विषय-वासना शुद्ध हो चुकी है और शरीर, मन, बुद्धि

आदि इन्द्रियाँ कार्यक्षम हैं। ऐसा जो वानप्रस्थ पुरुष हो, वही शिक्षक हो सकता है और वही प्रचारक भी हो सकता है।

अगर हम यह मानें कि गृहस्थाश्रम के साथ-साथ कुछ तालीम भी दी जा सकती है, तो वह भी जरूर दी जा सकती है, लेकिन वह तालीम घर में ही दी जानेवाली तालीम होगी, जो माता-पिता के जरिये अपने ही बच्चों को दी जाती है। यदि उसीका विस्तार करना है, प्रचलित समाज-व्यवस्था में, तो बच्चे अपनी माँ के पास रहने के बजाय पाँच-पचास माताओं के बच्चे एकत्र होकर किसी एक माता के पास रखे जायँ और बाकी की माताएँ काम पर जायँ, ऐसी भी एक योजना हो सकती है। लेकिन वह तालीम समाज का रूप बदलनेवाली तालीम नहीं होगी, बल्कि समाज का जो रूप है, उस पर आधार रखनेवाली और उसका थोड़ा-सा सुधार कर सकनेवाली तालीममात्र होगी। मैं उसे नयी तालीम नहीं कहूँगा। वह पुरानी तालीम ही है।

नयी तालीम का अर्थ

नयी तालीम का एक अर्थ मेरे मन में यह है कि वह नया समाज बनायेगी। नया समाज नित्य-निरंतर बनाना ही बाकी रहेगा, यह भी समझने की जरूरत है। एक नया समाज हम बना लेंगे, तो उसके बाद कोई नया समाज बनना बाकी नहीं रह जायगा, ऐसा नहीं। जो समाज हम बना चुके, वह तो पुराना हो गया और इसलिए पुनः नया समाज बनाने का काम शेष रह ही जाता है। नयी तालीम का मतलब है, नित्य नये समाज की रचना करनेवाली तालीम। ऐसी तालीम ऐसे अनुभवियों के

ही हाथों में होनी चाहिए, जो अनुभव-संप्रदान-समर्थ हैं और जिनकी व्यक्तिगत शुद्धि हो चुकी है। वे ही क्रांति का झंडा उठा सकेंगे।

वानप्रस्थ यानी अनुभवी

कोई नेपोलियन रहा, तो अपनी वीरगाथाएँ लोगों को सुनायेगा, अपने अनुभव उनके सामने रखेगा। जिस पुरुष ने युद्ध का अनुभव नहीं लिया, वह बच्चों को पराक्रमी क्या बनायेगा ? कोई एकाध महाजन, जो सत्यनिष्ठा के साथ करोड़ों का व्यापार कर चुका हो, वह अगर शिक्षक बने, तो वह बच्चों को व्यापार का अनुभवयुक्त ज्ञान देगा। जिसने व्यापार ही नहीं किया, सिर्फ व्यापारी-कॉलेज में जो पास होकर आया, वह बच्चों को व्यापार की तालीम क्या देगा ? भिन्न-भिन्न पराक्रम के क्षेत्रों में जो काम कर चुके और अनुभव प्राप्त कर चुके, वे ही बच्चों को तालीम देने के अधिकारी होते हैं।

इसलिए मैंने कहा था कि तालीम का काम वानप्रस्थों के हाथों में होना चाहिए। इस वास्ते वानप्रस्थाश्रम की स्थापना करने की हिम्मत और हिकमत अगर हममें हो, तो नयी तालीम जिस तरह हम चाहते हैं, उस तरह होगी। नहीं तो मुझे कोई आशा नहीं।

नयी तालीम का उद्देश्य

मुख्य विचार का प्रश्न यह है कि विद्यार्थियों की विद्या किस दिशा में मुड़नी चाहिए। हमें प्रचलित समाज को सुखी बनाना है या नया समाज बनाना है ? प्रचलित समाज को सुखी बनाने का

ही यदि विचार है, तो वानप्रस्थाश्रम की जितनी आवश्यकता अभी मैं प्रकट कर रहा हूँ, उतनी तीव्रता से वह महसूस नहीं होगी। परंतु अगर हम नव-समाज-निर्माण की बात करें, तो जो पराक्रम कर चुके, अनुभव से एक योग्यता प्राप्त कर चुके, जिनकी विषय-वासना परिशुद्ध हो चुकी और व्यापक हो चुकी है, जिनके मन, बुद्धि और शरीर आदि की शक्तियाँ क्षीण नहीं हुई हैं, बल्कि अधिक तेजस्वी और समर्थ हुई हैं, ऐसे शिक्षकों के हाथों में ही तालीम होनी चाहिए। ऐसे शिक्षकों का आश्रम वानप्रस्थाश्रम ही हो सकता है।

हर व्यक्ति शिक्षक बनें

एक दफा नयी तालीम की बात चली थी, तब राजाजी ने उसका महत्त्व बताते हुए कहा था कि "वह तो ऐसी विशेष तालीम है कि उसके वास्ते अनुभवयुक्त शिक्षकों की आवश्यकता रहेगी।" पूछा गया था कि मद्रास में यह नयी तालीम क्यों न चलायी जाय, तो उसके उत्तर में उन्होंने कहा था कि "मैं अगर राज्य-कार्य की जिम्मेदारी से निवृत्त हो जाऊँ, तो नयी तालीम का शिक्षक बनूँगा।"

राजाजी का यह कथन ठीक है। हरएक के जीवन में शिक्षक बनने का समय आना ही चाहिए। जवाहरलाल नेहरू के जीवन में एक समय ऐसा आना चाहिए कि जब वे नयी तालीम के शिक्षक बनेंगे। डॉ० राधाकृष्णन् के जीवन में ऐसा समय आना चाहिए कि जब वे नयी तालीम के शिक्षक बनेंगे और ऐसा एक समय घनश्यामदास बिड़ला के भी जीवन में आना चाहिए कि जब वे

नयी तालीम के शिक्षक बनेंगे। आप अगर यह आयोजन करते हैं, तो वह नवजीवनदायी आयोजन होगा। . . .

गुण-विकास ही शिक्षा

नयी और पुरानी शिक्षा-पद्धति

कहा जाता है कि पुरानी शिक्षा-पद्धति ज्ञान-प्रधान है और हम लोगों की नयी तालीम कर्म-प्रधान है। पर यह विश्लेषण गलत है। पुरानी शिक्षा-पद्धति को ज्ञान-प्रधान कहना भूल है और नयी शिक्षा-पद्धति को कर्म-प्रधान कहना भी भूल है। कुछ लोग ऐसा कहेंगे कि पुरानी शिक्षा-पद्धति पुस्तक-प्रधान थी और नयी तालीम उद्योग-प्रधान है। पर यह व्याख्या भी पूर्ण नहीं है। हमारा लक्ष्य काम के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का निर्माण करना ही नहीं है और न यही लक्ष्य है कि हम ज्ञान-युक्त कारीगर तैयार करें। हमें मानव का पूर्ण गुण-विकास अपेक्षित है। जो शिक्षक और विद्यार्थी इसमें भाग लेंगे, उन दोनों का ही पूर्ण विकास होना चाहिए। अगर वे "केवल ज्ञान" या "केवल कर्म-कुशलता" या दोनों ही प्राप्त करें, तो भी वह शिक्षण एकांगी ही होगा। कारण कर्म-शक्ति और ज्ञान-शक्ति अनेक गुणों में से केवल दो गुण हैं, जब कि शिक्षा से हमें सभी गुणों का विकास अपेक्षित है।

अंतरिम विकास

कहा जाता है कि हम लोग बच्चों को सूत कातना सिखाते

हैं और उसके द्वारा ज्ञान देते हैं। पर हम लोगों का केवल इतना ही काम नहीं है। हमें तो इसके द्वारा यह देखना होता है कि इससे उनका आन्तरिक विकास हुआ या नहीं? उनका आलस्य चला गया या नहीं ? उनमें उद्योगशीलता आयी या नहीं? वे सब प्रकार से निर्भय बने या नहीं? वे सत्यवादी, संयमी और सेवाभावी बने या नहीं? ये सब बातें हमें देखनी होती हैं।

परीक्षा की गन्दी पद्धति

पुरानी शिक्षा-पद्धति का गंदे-से-गंदा चित्र मेरे सामने परीक्षा के समय का आ खड़ा होता है। जब हम लोगों की परीक्षा होती है, तो हम लोगों की देखरेख के लिए निरीक्षक रखे जाते हैं। वे इसलिए नियुक्त होते हैं कि कहीं विद्यार्थी चोरी से एक-दूसरे की नकल न करें। मुझे यह देखकर दु:ख होता है कि अगर हम लोगों के बारे में आरंभ से ही यह धारणा रखी जाती कि हम चोरी कर सकते हैं, तो फिर विद्यार्थी की दृष्टि से हम पहले ही फेल हो गये! अब हम लोगों की परीक्षा लेने के लिए बचा ही क्या?

जागरूकता आवश्यक

अगर आरंभ से ही पूरी सावधानी न बरती जाय, तो गुण-विकास की ओर ध्यान न देने का, पुरानी शिक्षा-पद्धति का दोष इस नयी तालीम में भी आ सकता है। इतनी गुंडियाँ कतवा लेनी हैं, केवल इतना ही हम न देखें। हमें तो यह देखना चाहिए कि बच्चों की आत्मशक्ति प्रकट हो रही है या नहीं?

विनय से गुण-विकास

संस्कृत में शिक्षा को 'विनय' कहते हैं। कारण विनय सभी गुणों का प्रवेश-द्वार है। उसके द्वारा अन्य गुणों का विकास होता है। जो विनीत है, नम्र है, विनयशील है, वह जहाँ कहीं गुण मिलेगा, ज्ञान मिलेगा, अच्छी बात दीख पड़ेगी, तत्काल उसे ग्रहण कर लेगा। यह गुण-ग्राहकता विनय का मुख्य लक्षण है। इसीलिए पूर्वजों ने हम लोगों का ध्यान विनय पर केन्द्रित किया था।

मेरा सत्यस्वरूप

मैं देह नहीं, देह से अलग हूँ। मेरा सत्य-स्वरूप सुन्दर और परिशुद्ध है, वह अशुद्ध नहीं होता। गलतियाँ तो देह के द्वारा होती हैं। मेरा शरीर अस्वच्छ होता है, पर मैं अस्वच्छ नहीं होता। देह से भिन्न आत्मा का भान ही शिक्षा है। जहाँ यह भान नहीं होता, वह हमारी शिक्षा-व्यवस्था नहीं, वह शिक्षा-संस्था भी नहीं।

अगर कोई बच्चा अस्वच्छ दिखाई देगा, तो मैं उससे यह न कहूँगा कि तू गन्दा है। मैं उससे यही कहूँगा कि "तू तो स्वच्छ है, पर तेरे शरीर पर कुछ गन्दगी लग गयी है। उसे तू साफ कर डाल।"

मन का सुधार

हमें अपने मन को घड़ी की तरह बना लेना चाहिए, जिसे कभी भी हाथ में लेकर देखा जा सके और यदि उसमें कभी

कोई भूल दीख पड़े, तो हमें उसे दुरुस्त करना आना चाहिए। मैं वही हूँ, जो न तो कभी बिगड़ता है और न कभी अस्वच्छ ही होता है। बिगड़नेवाले और अस्वच्छ होनेवाले शरीर को तो मैं दुरुस्त करनेवाला और स्वच्छ करनेवाला हूँ। जब हममें यह विचार स्थिर हो जायगा, तभी हमें सच्ची शिक्षा-दृष्टि प्राप्त होगी।

—'सिंहावलोकन' से

ज्ञान की व्याख्या : २१ :

आशादेवी ने अभी बताया कि विनोबा एक शिक्षक हैं। उनका यह कहना अनुपयुक्त नहीं। पर मैं एक विद्यार्थी हूँ, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा। मेरे जेल के साथी मेरे विद्यार्थीपन के गवाह हैं। अध्ययन के लिए मुझे बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मैंने अपने जीवन का अधिकांश समय प्रत्यक्ष काम में ही बिताया है। तभी तो अपनी बुद्धि हमेशा ताजी होने का मुझे अनुभव होता है।

बुद्धि ताजी कैसे रहे ?

खुली हवा में कुछ-न-कुछ शरीरश्रम करते रहने को ही मैं बुद्धि ताजी रहने का मुख्य कारण मानता हूँ। इससे तपी-तपायी भूमि बारिश के लिए जैसी तैयार रहती है, बुद्धि भी ज्ञान-ग्रहण के लिए वैसी ही सदा तैयार रहती है। शारीरिक श्रम से तपी बुद्धि ज्ञान ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहती है और वह ज्ञान को

फलद्रूप बनाती है। हमें विद्यार्थियों में ज्ञान नहीं भरना है, हमें उनमें ज्ञान की पिपासा उत्पन्न करनी है । ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति पैदा करनी है।

विद्यार्थी स्वयं ही सीखता है। उपनिषद् में वर्णन आता है कि विद्यार्थी को गायें दी जाती हैं और वह उन्हें चराते-चराते ही शिक्षा प्राप्त करता है। उसे कभी कोई बैल ज्ञान देता है, कभी कोई चिड़िया, तो कभी कोई पेड़। ज्ञान मिलते ही उसका चेहरा सतेज हो उठता है। उसका चेहरा देखकर गुरु कहता है कि "बेटा ! ऐसा लगता है कि तुझे ज्ञान मिल गया।" वह कहता है: "गुरुमुख के सिवा ज्ञान कैसा ?" गुरु कहता है: "तुझे सच्चा ज्ञान मिल गया है। तेरी विद्या निर्दोष है । गुरु की मोहर लगी कि उसका गुरुकुल-वास समाप्त !"

चेहरे पर शिक्षा का तेज

शिक्षक और छात्र, दोनों ही एक-दूसरे के आचरण से शिक्षा पाते हैं। दोनों ही विद्यार्थी हैं। जो दिया नहीं जाता, वही शिक्षण है। जो लिया जाता है, जिसका हिसाब रखा जा सकता है या जिसे कुछ लिखा जा सकता है, वह शिक्षण नहीं। शिक्षा का लेखा-जोखा नहीं किया जा सकता। जीवन ही शिक्षा है। "कैलरी" का सच्चा हिसाब कागज पर नहीं, शरीर पर दीखता है। जो अनुभव में आया, खाया, पचा और रक्त में एकरस हो गया, वही सच्चा शिक्षण है।

परीक्षा यानी जुलाब

जिस विषय की मुझे परीक्षा देनी पड़ी, उसका मुझे विशेष ज्ञान नहीं। पर जिस विषय की परीक्षा नहीं दी, उसका मुझे अच्छा ज्ञान है। इसलिए अपने अनुभव से मैं परीक्षा को कोई मूल्य नहीं देता। पेट साफ करने के लिए जैसे जुलाब लेना पड़ता है, परीक्षाएँ भी ठीक वैसी ही होती हैं। परीक्षा दे दी कि सारा ज्ञान साफ! इसलिए शिक्षाशास्त्र द्वारा खड़े किये गये इस ढोंग में पड़ने की कोई जरूरत नहीं।

भूलने की महिमा

उपनिषद् में ज्ञान के साथ-साथ अज्ञान की भी महिमा गायी गयी है। मनुष्य को ज्ञान भी चाहिए, अज्ञान भी। केवल ज्ञान या केवल अज्ञान अन्धकार में ले जाता है। उपयुक्त ज्ञान और उपयुक्त अज्ञान के संयोग में ही अमृतत्त्व भरा हुआ है। वैसे देखा जाय, तो संसार में ज्ञान इतना भरा पड़ा है कि सबको मस्तिष्क में ठूँसने का यत्न करने पर मानव पागल हो जायगा। इसलिए स्मरण के साथ-साथ विस्मरण की भी उतनी ही आवश्यकता है। विद्यार्थी रटी हुई चीज ज्यों-की-त्यों सुना दे, तो मुझे वह पसन्द नहीं पड़ता। उसे मैं ग्रामोफोन कहता हूँ। वह तो यंत्र हो गया। मैं उसे चेतन कहनेवाला नहीं। वह यदि चैतन्य होता, तो कुछ छोड़ देता, कुछ जोड़ देता।

—'क्रान्तदर्शन' से

नयी तालीम एक विचार है : २२ :

(तालीमी संघ-सम्मेलन, सेवाग्राम)

आज करीब चौदह साल हुए कि नयी तालीम का बड़ा विचार हमारे देश को मिला। वैसे तो वह नया नहीं है, क्योंकि कोई भी सत्य अनुभव नया नहीं होता। वह तो सनातन होता है। उसके बीज भूतकाल में पड़े रहते हैं। लेकिन जब उसका कोई पहलू हमारे जमाने के लिए आकृष्ट होता है, तब हमें आभास होता है कि हमें एक नया विचार मिल गया। हमारे लिए वह नया होता है। उसका नयापन यह है कि उससे हम प्रेरणा पाते हैं। नयी तालीम के विचार ने इतने साल तपस्या की और अब वह देश के सामने एक आवाहन के रूप में खड़ा है। इतने साल बीत जाने के बाद नयी तालीम इतनी सिद्ध वस्तु बन गयी है कि यह कहा जायगा कि उसकी असलियत, उसकी पुष्टि और उसका अमृतत्व संशय से परे हो गया है।

हमारी नादानी का सबूत

लेकिन मैं ताज्जुब में हूँ और इसका मुझे दुःख भी है कि अभी तक स्वराज्य-प्राप्ति के बाद तीन साल बीत चुके, फिर भी इस पर अमल करने का साहस हमसे बन नहीं पड़ रहा है। स्वराज्य से पहले जो तालीम लोगों को गुलाम रखने के लिए उचित समझकर जारी की गयी, वही तालीम स्वराज्य-प्राप्ति के बाद अगर वैसे ही जारी रहती है, तो इससे बढ़कर नादानी का और सबूत भी क्या हो सकता है? अगर

हमें अब भी यह लगता है कि यह चीज प्रयोगावस्था में है, अभी यह चीज पक रही है, खाने का मौका अभी नहीं आया है, जब चीज पूरी पकेगी तब खायेंगे—अगर यही विचार है, तो मैं कहूँगा कि तब तक क्या आप ईंटें और पत्थर खाया करेंगे? आज आपके खाने लायक है क्या? वह तो फेंक देने लायक है। उसे फौरन फेंकते और कहते कि "अभी तालीम का क्या चित्र होना चाहिए, हमें नहीं सूझ रहा है, उसके बारे में सोचने में हमें चंद महीने लगेंगे, उतने दिनों तक हम तालीम बंद कर देते हैं। हमारे सब बच्चे मजदूरी में लग जायेंगे, क्योंकि हमें पैदावार बढ़ाने की सख्त जरूरत है", यदि ऐसा कहते तो क्या नुकसान होनेवाला था? लेकिन जैसी तीव्रता हमें अपने झंडे के लिए महसूस होती है, वैसी तीव्रता तालीम के लिए महसूस नहीं होती। इसे मैं नादानी कहता हूँ।

नयी तालीम सबके लिए है

अब इस तालीम को तो हमने नाम दिया है, बुनियादी तालीम। लेकिन बुनियादी का मतलब क्या है, यह हम समझ नहीं पाये हैं। बुनियादी का मतलब हम इतना ही समझते हैं कि बच्चों को आरंभ में देने की तालीम। पर इतना ही उसका मत-लब नहीं है। उसका मतलब यह है कि देश में शुरू से आखीर तक जो भी तालीम दी जायगी, चाहे उसे निचली तालीम कहिये, बीच की तालीम कहिये या ऊँची तालीम कहिये, वह सारी-की-सारी तालीम इस बुनियाद पर खड़ी करनी होगी। यह नहीं हो सकता कि देहात के लोगों के लिए एक तरह की तालीम चले

और शहरवालों के लिए दूसरी तरह की। यह नहीं हो सकता कि पहले चार साल यह तालीम चले तथा उसके बाद कोई और चीज चले, जिसका इसके साथ कोई ताल्लुक न हो। यह भी नहीं हो सकता कि प्रयोग के लिए शरणार्थियों पर इसका प्रयोग किया जाय और सारे देश के लिए दूसरी तालीम चले। उसका मतलब यह है कि जो हमारे देश की सारी शिक्षा नयी तालीम की बुनियाद पर होगी, यह बात अगर मंजूर है, तभी यह तालीम 'बुनियादी तालीम' कहने लायक है। मैं तो तालीम के प्रयोग में लगे हुए कितनों को यह कहते सुनता भी हूँ कि जब उन्हें यह पूछा जाता है कि 'शहरों के लिए आपने क्या सोचा ?' तो वे कहते हैं: "भाई, यह तालीम शहरों के लिए नहीं है।, यह तो देहात के लिए है।" मैं कहता हूँ कि इससे अधिक गलत खयाल कोई हो नहीं सकता। यह तालीम सबके लिए है। शहर और गाँव, ऐसा फर्क इसमें नहीं है।

शोषण बंद कीजिये

आज जैसा शहर का वातावरण है, वैसा ही अगर हम रहने देना चाहते हैं, तो हिन्दुस्तान में शाँति नहीं रह सकती। जिन ग्रामीणों के आधार पर शहर खड़े हैं, उनकी सेवा में उन्हें लग जाना चाहिए और इसी खयाल से अपने बच्चों को तालीम देनी चाहिए। यह नहीं हो सकता कि देश की सेवा की तालीम गाँववाले पायें और शहरवाले बच्चे देश को लूटने की तालीम पायें। यह इस देश में नहीं चल सकता। क्योंकि यह देश जाग्रत हुआ है और जाग्रत देश इस तरह का भेद हरगिज सहन नहीं करेगा। बुनियादी तालीम का मतलब समझाने के लिए मैंने इतना कह दिया।

तंत्र नहीं चाहिए

अब इसमें जो कुछ खतरे हैं, उनके विषय में भी मैं आप लोगों को आगाह कर देना चाहता हूँ। हम लोग यहीं इसका कुछ प्रयोग कर रहे हैं। उसका कुछ स्वरूप उस प्रदशर्नी में आप पायेंगे। यहाँ हिन्दुस्तान भर के लोग तालीम पाने के लिए आते हैं। आपने अभी देखा कि सारे सूबों का दर्शन यहाँ हो गया। सब जगह के लोग यहाँ आये और यहाँ से कुछ लेकर चले जायेंगे। मैं इसमें भी खतरा देख रहा हूँ। यहाँ पर जो भी आप सीखेंगे या देखेंगे, वह केवल एक दिग्दर्शन के तौर पर दिशासूचक ही होगा। एसा अगर नहीं मानते, तो उधर एक सरकारी तंत्र और यहाँ पर तालीमी संघ का दूसरा तंत्र, इन दो तंत्रों के बीच हमारी यह सारी तालीम भरता हो जायगी। मैं तंत्रों से बहुत डरता हूँ और खास करके तालीम के मामले में तंत्र ऐसी चीज है कि वह उसे खतम ही कर देती है। बुनियादी तालीम का जो भी अनुभव तालीमी संघ द्वारा मिला, वह एक नमूना आपके सामने है। उस पर आप सोचें, अपना दिमाग स्वतंत्र रखें और हर जगह स्वतंत्र प्रयोग करें, यह मैं चाहता हूँ।

नयी तालीम का विविध दर्शन

एक भाई मेरे पास आये थे, यहाँ का काम देखने के लिए। बोले: "यहाँ नयी तालीम का प्रयोग कहाँ-कहाँ चल रहा है, मैं देखना चाहता हूँ।" मैंने कहा: "भाई, जाओ सेवाग्राम और वहाँ तालीमी-संघ में जो चल रहा है, वह देखो। फिर जाओ महिलाश्रम में। वहाँ जो चल रहा है, वह देखो। फिर जाओ

गोपुरी में, वहाँ जो कुछ है, वह देखो। फिर जाओ मगनवाड़ी में।" वे सब स्थान देखकर आये और आखिर मेरे पास पहुँचे। बोले: "हमने हर जगह कुछ अलग-अलग ही चीज देखी। जो हमने सेवाग्राम में पाया, वह हमें महिलाश्रम में नहीं मिला, वहाँ कुछ और चीज चलती है। उधर गोपुरी में तो दूसरी ही चीज चल रही है। वहाँ तो कारखाने-ही-कारखाने लग गये। काम-ही-काम चलता है। महिलाश्रम में तालीम तो दी जाती ह और लड़कियाँ पकाती भी हैं, पाखाना भी साफ करती हैं, कपड़ा भी बुनती हैं। हर जगह अलग-अलग स्वरूप दिखाई पड़ा।" मैंने उनसे कहा कि "यह सारी नयी तालीम है और ये सबके सब नयी तालीम के प्रयोग हैं। नयी तालीम एक "तंत्र" नहीं, "विचार" है।

बहुत लोग इस बुनियादी तालीम को आजकल एक पद्धति के तौर पर देख रहे हैं। एक शिक्षण की पद्धति उसका एक टेकनिक् और एक विशिष्ट तंत्र। उसे लेकर वे सोचते हैं कि जैसे कई शिक्षण-पद्धतियाँ पहले हो चुकीं, वैसे ही यह भी एक नयी शिक्षण-पद्धति आयी है। पर ऐसा सोचना गलत है। यह एक विचार है, जैसे ब्रह्मविचार एक अत्यंत व्यापक विचार प्राचीन जमाने में हिंदुस्तान को मिला था। उस एक ब्रह्मविचार में से अद्वैत उपासना भी निकली, द्वैत उपासना भी निकली, विशिष्ट अद्वैत उपासना भी निकली और शुद्ध अद्वैत उपासना भी निकली। इस तरह की कई उपासनाएँ एक ब्रह्मविचार में से निर्माण हुई। वैसे ही यह एक व्यापक शिक्षण-विचार है।

अनुबन्ध की गलत धारणा

एक दफा एक भाई से चर्चा चल रही थी। मैं उन्हें समझा रहा था कि पाश्चात्य शिक्षण-पद्धति में श्लोक आदि कंठ करने को कोई महत्त्व नहीं देते, लेकिन यह गलत चीज है। बच्चों को अच्छे चुने हुए काफी श्लोक कंठ करने चाहिए। अपना दृष्टांत देकर मैंने बताया कि उससे मुझे कितना लाभ हुआ है और जीवन में कई मौकों पर कितना आधार उससे मिला है। हमारे साहित्य में ऊँचे अनुभव के जो विचार हैं, वे अगर हमारे कंठ में रहते हैं, तो उनसे कितना लाभ होता है, इसलिए पाश्चात्य शिक्षणवेत्ताओं के इस विषय के अनुभव में और हमारे अनुभव में फर्क है। वे एक विश्लेषण-पद्धति से देखते हैं और दुनिया के टुकड़े करके उन्हें तकसीम करते हैं, उन्हें शाखाओं में बाँटते हैं। लेकिन हम लोग सारी दुनिया को समग्र रूप में देखते हैं और उसका अद्वैत-स्वरूप पहचानते हैं। यह यहाँ की पद्धति में और वहाँ की पद्धति में भेद रहा है। इसलिए हम लोग साहित्य के सर्वोत्तम विचारों को कंठ रखते हैं। जो लोग इस तरह नहीं करते, वे बुद्धि को अधिक स्थान देते हैं। बुद्धि का स्थान सर्व-मान्य है। लेकिन भाव को या भावना को छोड़ नहीं सकते। हृदय भी एक चीज होती है। उसके पोषण के लिए ऐसे सद्विचारों को कंठ करना अत्यन्त लाजिमी है, जरूरी है। तब फौरन उन्होंने पूछा कि "ठीक है। बात तो जँच जाती है, लेकिन उद्योग के साथ इसका मेल कैसे बैठाया जायगा?" मैंने उन्हें कहा कि "इसके जवाब में मैं एक सवाल पूछूँगा। आपके बच्चे रात को सोनेवाले हैं। तो उद्योग से क्या संबंध होगा उस सोने

का? यह जरा मैं जानना चाहूँगा।" उन्होंने कहा कि "उसका संबंध तो यह होगा कि सोने के बाद उत्साह आयेगा और उद्योग के लिए उत्साह की आवश्यकता होती है, तो संबंध जुड़ गया।" मैंने कहा: "ठीक है, इस तरह से देखो। मनुष्य में एक आत्मा होती है। उस आत्मा की शक्ति से ही देश शक्तिमान् बनता है। सिर्फ देह में शक्ति नहीं होती। आत्मा से भिन्न जो देह होती है, उसे दुनिया में देह नहीं, बल्कि लाश कहते हैं और उसका विनियोग श्मशान में होता है। जिस देह में आत्मा होती है, उसी देह में कर्तृत्व-शक्ति होती है। तो आत्मा के विकास के लिए मैं कुछ उत्तम श्लोकों का पाठ करना आवश्यक समझता हूँ।"

यह तो मैंने एक मिसाल इसलिए दी कि बहुत-से लोग इसका अभी तंत्र बनाने जा रहे हैं और उस तंत्र में अगर इस चीज को जकड़ेंगे, तो यह चीज निर्जीव-सी बन जायगी। फिर लोगों को कुछ करना-धरना नहीं रहेगा और हर क्रिया का हर ज्ञान के साथ किस तरह जोड़ बैठ सकता है, उसीकी खोज में बेचारे लगे रहेंगे। इसमें से हमें मुक्त होना चाहिए। नयी तालीम एक जीवन-दर्शन है। उसमें जो दृष्टि है उसे लेकर काम करना है।

नृत्य गायन की मर्यादा

कई दफा यह भी होता है कि स्कूल में परिश्रम तो रखा जाता है, लेकिन उसके साथ-साथ कुछ मनोविनोद भी चलता है। उसका मैं द्वेष नहीं करूँगा। उसमें नादब्रह्म की उपासना होती है। लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे देश के

लोग भूखे हैं। यह दृश्य नजर के सामने रखो कि एक भूख से तड़फड़ा रहा है और दूसरा तड़फड़ाकर मरा पड़ा है। यह याद रखकर फिर नाचना हो, तो नाचो और गाना हो, तो गाओ और बजाना हो, तो बजाओ। लोग चित्रकला सीखते हैं। मैं उनसे सिफारिश करूँगा कि ऐसा भी एक चित्र खींचें कि एक मनुष्य भूख से व्याकुल है, दूसरा भूख से मरने की तैयारी में है और तीसरा भूखा मर चुका है। ऐसा चित्र सामने रखकर हमें काम करना चाहिए। तो हिन्दुस्तान के शिक्षण का क्या स्वरूप होगा, उसका ठीक से हमें पता लगेगा। स्कूल में कहते हैं कि हम सांस्कृतिक कार्यक्रम करते हैं। ठीक है, मैं उसकी कद्र करता हूँ। उसकी कीमत करता हूँ। मनुष्य के जीवन में उसका भी स्थान है। लेकिन उसके पीछे हम ऐसे पागल न बन जायँ कि हमारा जो मुख्य मकसद है शिक्षण का, वह गायब हो जाय और हमारी जो मुख्य समस्या है, उसे हम भूल जायँ।

शिक्षण संयमप्रधान हो

कहते हैं कि हिन्दुस्तान में लोक-संख्या बढ़ रही है। इसमें शक नहीं कि यह एक गंभीर बात है और सोचने की बात है। लेकिन मैं आपसे कहूँगा कि प्रजा की संख्या बढ़ रही है, इस बात का मुझे उतना डर नहीं है, जितना कि इस बात का डर है कि निर्वीर्य प्रजा बढ़ रही है। प्रजा अगर वीर्यवती, कर्मयोगी, दक्ष हो, तो जो संख्या पैदा होगी, उसका भार वहन करने के लिए यह वसुंधरा समर्थ है, ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन जो निर्वीय और निस्तेज प्रजा बढ़ रही है, वह क्यों? इसलिए कि देश

में संयम का वातावरण नहीं है। जो भी साहित्य लिखा जा रहा है, जो सिनेमा वगैरह चल रहे हैं, वे सब हिन्दुस्तान के सारे वातावरण को पूर्णतः निर्वीर्य बना रहे हैं। ऐसे वातावरण में हमारी तालीम पर यह जिम्मा आता है कि हमारे लड़के बचपन से ही संयमी बनें, वीर्यवान् बनें, निग्रही बनें। "हस्तसंयतो, पादसंयतो, वाचासंयतो" ऐसा बुद्ध भगवान् ने कहा था। हस्त-कौशल तो हम देखें, लेकिन हस्तसंयम भी देखें। इन्द्रिय-कौशल के साथ इन्द्रिय-संयम की भी शक्ति होनी चाहिए। जहाँ संयम की शक्ति नहीं है, वहाँ जो कौशल होता है, वह मनुष्य को बरबाद करने के काम में आता है। उससे मनुष्य को लाभ नहीं होता। केवल शक्ति में लाभ नहीं है, कौशल में लाभ नहीं है। बल्कि लाभ है, शक्ति का और कौशल का कल्याणकारी उपयोग करने में। लेकिन इस ओर हमारा ध्यान कम है। जहाँ बुनियादी तालीम का जिक्र होता है, वहाँ उद्योग के जरिये शिक्षा—बस, इतना ही मंत्र जपते हैं। और इसी एक वाक्य से ही मानते हैं कि हमारी शिक्षण-पद्धति का पूरा वर्णन हो गया। पर यह गलत वर्णन है।

नयी तालीम शीलप्रधान हो

हमारी यह शिक्षा-पद्धति एक संयम-पद्धति है। अर्थात् वह संयम-प्रधान है, स्वच्छन्द-प्रधान नहीं है। बचपन से हमारे बच्चे अपनी इन्द्रियों को, अपने मन को और अपनी बुद्धि को संयम में रखें, यह मुख्य दृष्टि होनी चाहिए। उनकी वाणी में सत्य-निष्ठा लानी होगी। वाणी से अपेक्षित विचार प्रकट हों, याने सिर्फ

वाणी की शैली नहीं देखनी है, बल्कि वाणी का शील देखना है। शील और शैली में जो फर्क है, उस तरफ मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ।

नयी तालीम स्त्रियों के हाथ में हो

एक बात मैं और कहूँगा। यह जो वातावरण संयमयुक्त रखने की जिम्मेवारी है, वह अगर ठीक ढंग से हमें सिद्ध करनी है, तो जरूरी है कि बुनियादी तालीम का काम जितना हो सकता है, स्त्रियों को सौंपा जाय और उस काम के लिए स्त्रियाँ तैयार की जायँ। परसों मृदुलाबेन साराभाई मुझसे भेंट करने आयी थीं। उन्होंने स्त्रियों के विषय में कुछ सवाल हमसे पूछे। मैंने कहा कि "देखो, तुम जगह-जगह कस्तूरबा-केंद्र खोलती हो और गाँव की स्त्रियों की सेवा की योजना बनाती हो। मेरा सुझाव है कि कस्तूरबा का काम और हमारा यह नयी तालीम का काम, सारा एक हो जाय और हिन्दुस्तान में जितनी भी स्त्रियों की संस्थाएँ हैं, उन सबसे हम सम्बन्ध रखें और स्त्रियों की सेवा के लिए बाहर लायें। स्त्रियों के हाथ में छोटे बच्चों की शिक्षा दे दें। उपनिषदों में कहा है। "मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान्।"—शिक्षण पहले माता से, बाद में पिता से और अंत में आचार्य से लिया जाय—यह शिक्षण का क्रम होना चाहिए। . . .

भारतीय विद्या : २३ :

शिक्षा से दो अपेक्षाएँ

शिक्षा में दो बातें देखनी पड़ती हैं। पहली यह कि जो शिक्षा दी जाती है, वह जनता के खर्च से दी जाती है। इसलिए प्रत्यक्ष व्यवहार में उसका उपयोग होना चाहिए। बालक ऐसी शिक्षा पायें कि शिक्षित होने पर समर्थ बन दुनिया की सेवा करने के लिए आगे आ सकें और उन्होंने जितना लिया है, उससे दसगुना वे दूसरों को दे सकें। जैसे एक सेर बीज खेत में रोपने पर पच्चीस सेर बनकर निकलता है, वैसे ही छात्रों की चित्त-भूमि में रोपा गया विचार-बीज दस-बीसगुना बनना चाहिए।

शिक्षा से दूसरी यह भी अपेक्षा की जाती है कि उससे विद्यार्थी के समग्र विकास की सामग्री उसे मिलेगी। मन की जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सब ऋषि-मुनियों ने हमें समझा दी हैं "अनन्तं हि मनः, अनन्ता विश्वे देवाः"—विश्वदेव अनन्त हैं और मन भी अनन्त है। जब हम उसकी एक-एक वृत्ति और शक्ति का विश्लेषण करने लगते हैं, तब हमें उसके अनेक गुणों का आभास मिलता है। आत्मा सच्चिदानन्द है। उसके सान्निध्य से मन में अनेक गुणों की छाया प्रतिबिम्बित हो उठती है, अनन्त गुण मन में प्रकाशित हो उठते हैं।

हमें अनुभवी पुरुषों ने सिखलाया है कि मुख्य शिक्षा वही है, जिससे हम अपने आपको मन और शरीर से भिन्न पहचान सकें। स्वयं की यह पहचान ही सर्वोपरि गुण है।

विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक

प्राचीनकाल में ऐसा था कि अगर कोई विद्यार्थी गुरु के पास जाकर केवल विद्यार्जन कर ले, तो वह केवल विद्या-स्नातक कहा जाता था। वह पूर्ण स्नातक नहीं हो सकता था। विद्या-स्नातक होने के साथ ही उसे व्रत-स्नातक भी होना पड़ता था। उसे अपने आप पर विजय प्राप्त करनी पड़ती थी। आत्म-दमन की, आत्म-नियमन की कला जो सीखता, उसे व्रत-स्नातक कहते।

इस तरह जब तपाकर खरा उतरा विद्यार्थी संसार में प्रवेश करता है, तो वीर-वृत्ति और पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ ही प्रवेश करता है। वह संसार में किसीके सामने सिर नवाकर नहीं, बल्कि छाती फुलाकर चलेगा। वह इस वीर-आवेश के साथ संसार में प्रवेश करेगा कि "नमयतीव गतिर् धरित्रीम्"—मानो उसके चलने से पृथ्वी दबी जा रही है।

विद्या से ही विनय का जन्म

इसका यह अर्थ नहीं कि वह उद्धत बन जायगा। उसमें नम्रता तो रहेगी ही। कारण, ज्ञान पाये हुए व्यक्ति को इस बात का पता रहता है कि ज्ञान कितना अनन्त है और उसे उसमें कितना थोड़ा अंश मिला है। इसलिए सच्चा ज्ञानी जितना विद्या-संपन्न और विनय-सम्पन्न होगा, विद्या न पानेवाला उतना कभी भी न हो सकेगा। कारण, उसे विद्या की माप मिली ही नहीं। जिसने विद्या के समुद्र का दर्शन कर लिया, उसके ध्यान में यह बात सहज ही आ जायगी कि विद्या का कहीं पार या अंत नहीं है और मुझे जो ज्ञान मिला है, वह उसका एक अंशमात्र है। इसी-

लिए मुझे आजीवन ज्ञान की खोज करते रहना चाहिए। वह कितना ही ज्ञान प्राप्त कर ले, फिर भी संसार में ज्ञान बाकी बना ही रहेगा। उसे इस वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान रहेगा। इसलिए वह सदैव नम्र बना रहेगा। इसीलिए पूर्वपुरुषों ने विद्वानों से कहा है कि वे स्वयं तो विनीत रहें ही, "प्रजानां विनयाधानात्" —प्रजा को भी विनयसम्पन्न बनायें।

धैर्य भी अपेक्षित

किन्तु नम्रता के साथ ही विद्यार्थी में दृढ़ निश्चय, आत्म-विश्वास, धैर्य, निर्भयता आदि सभी गुण होने चाहिए। बुद्धि के साथ धृति भी रहनी ही चाहिए। जब छात्र संसार में प्रवेश करेगा, तो विजयी वीर की तरह ही करेगा। वेद में एक मंत्र है। वेदाध्ययन की परिपूर्णता के समय छात्र कहता है : "मह्यं नमन्तां प्रदिशश् चतस्रः"—ये चारों दिशाएँ मेरे सामने नत हों। अगर कोई इस प्रकार की विद्या प्राप्त करे, तो वह उससे सारी दुनिया की सेवा करे।

ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि

ऐसा नहीं होता कि आज अन्न खाया और तृप्ति दो दिन बाद हुई। तृप्ति और तुष्टि का उसी क्षण अनुभव हो जाता है। ज्ञान का भी यही हाल है। जहाँ सच्चा ज्ञान मिलता है, वहाँ चेहरा ही चमकने लगता है। विद्यार्थियों को अपार आनंद होता है और उसीके फलस्वरूप उनकी ज्ञान-पिपासा बढ़ती जाती है। उन्हें कभी यह अनुभव नहीं होता कि ज्ञान-प्राप्ति में उनका समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है।

अध्ययन की पुरातन परम्परा

जिसने एक बार अध्ययन का स्वाद चख लिया, वह उसे फिर कभी छोड़ नहीं सकता। ऋषि कहते हैं : हर काम करो, पर उसके साथ ही "स्वाध्याय-प्रवचने च"—स्वाध्याय और प्रवचन भी किया करो। "ऋतं च स्वाध्याय-प्रवचने च", "सत्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च"—सत्य बोलो, तो उसके साथ स्वाध्याय और प्रवचन भी करो। "तपश्च स्वाध्याय-प्रवचने च"—तप करो, तो उसक साथ स्वाध्याय और प्रवचन भी करो। जन-सेवा करो, तो उसके साथ भी स्वाध्याय और प्रवचन करो। अग्नि की सेवा करो, तो उसके साथ भी स्वाध्याय और प्रवचन करो। गृहस्थाश्रम के जितने भी काम किये जायँ, उनमें से प्रत्येक के साथ स्वाध्याय और प्रवचन भी अपेक्षित है और वह ठीक भी है। विद्याभ्यास के समय जो उस रस का स्वाद ले लेता है, उसका वह रस उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

हमारी विद्या की परम्परा

पर आज हम देखते हैं कि हमारे देश में अध्ययन का अभाव ही हो गया है। यह देश प्राचीन है और यहाँ प्राचीनकाल से निरन्तर अध्ययन चला आ रहा है। अभी कल तक यहाँ अध्ययन की यह अखण्ड परम्परा चली आ रही थी। जिस जमाने में शेष दुनिया के सभी लोग अँधेरे में थे और विद्या से अपरिचित थे, उस समय भी यहाँ यह विद्या विद्यमान थी। यहाँ के निवासी ब्रह्म-वेला में ही उठ जाते। "अनुब्रुवाणः अध्येति न स्वपन्"—वे सुबह सोते नहीं, अध्ययन करते थे।

आज की दुरवस्था

पर आज हम देखते हैं कि अध्ययन करनेवाले लोगों की भारी कमी है। इस कमी के मूल कारण आज की इसी शिक्षा-प्रणाली में निहित हैं। जब छात्र इसमें प्रवेश करता है, तो १०-१५ वर्ष में शिक्षा पाने तक उसका सारा रस सूख जाता है। उसकी प्रेरणा-शक्ति क्षीण हो जाती है। आप देखते ही हैं कि पाठशाला में जाने के कारण बच्चों की आँखों की ज्योति मन्द पड़ जाती है, शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और मानसिक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। बुद्धि की और भी कितनी ही शक्तियों का विकास ही नहीं हो पाता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इससे उनमें प्राण-हीनता आ जाती है। उनको आत्मा का भान नहीं, हम देह से भिन्न हैं, इस बात का उन्हें पता ही नहीं और अपनी-अपनी इन्द्रियों पर उनका अपना अधिकार ही नहीं है। फिर शिक्षा किस बात की मिलती है?

यह वर्णन करते हुए मुझे खुशी हो रही हो, ऐसी बात नहीं। वास्तव में मुझे यह सोचकर भारी दुःख हो रहा है कि किसी समय हमारे देश में विद्या खूब फली-फूली थी, पर आज उसकी दशा क्या है? रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हमारे भारत का कैसा सुन्दर वर्णन किया है:

"प्रथम साम-रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वन गहने।
ज्ञान कर्म कत काव्य काहिनी,
अयि भुवन - मन - मोहिनी!"

जगत् का मन मोह लेनेवाली हमारी माता! पहली बार सूर्योदय यहीं हुआ और यहीं पहले पहल साम-गायन हुआ और यहीं से विद्या की किरणें सारे संसार में फैलती रहीं। जहाँ हम अपनी मातृभूमि का इस प्रकार स्मरण करते हैं, वहीं आज जो यहाँ चल रहा है, उसका वर्णन करते हुए मुझे आनंद नहीं, दुःख ही होता है।

इसलिए मुझे आपसे यही कहना है कि आप एक स्वर से यह माँग करें कि "हमें आज की यह शिक्षा कतई नहीं चाहिए।"

—'सेवक' से

आदर्श विद्यापीठ : २४ :

मनु का एक वाक्य है : "बच्चे को जब सोलहवाँ वर्ष लग जाय, तो उसके प्रति मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए।" मैं इस वाक्य का यह अर्थ समझता हूँ कि सोलहवें वर्ष के बाद जीवन का उत्तरदायित्व बच्चे को स्वयं ही सँभाल लेना चाहिए। मित्र को हम लोग सलाह देते हैं। समय पर उसकी मदद करते हैं, पर उसके जीवन का भार उसी पर रहता है।

समर्थ शिक्षा की सुविधा

जीवन का भार सचमुच भार ही नहीं, वह तो उपकार है। पर ऐसी समर्थ शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे वह उपकार मालूम हो। इसी तरह की शिक्षा माता-पिता की ओर से सोलह वर्ष की उम्र तक बच्चों को मिलनी चाहिए। माता-पिता की ओर

से कहने का मेरा तात्पर्य है : "समाज की ओर से ऐसी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।" समाज को चाहिए कि वह हर बालक के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था कर दे। उसके आगे की शिक्षा वह अपनी कमाई से प्राप्त करे।

मनु के इस वाक्य का यह भी अर्थ निकलता है कि सोलह वर्ष से पहले बच्चे पर जीवन का सारा उत्तरदायित्व डालना उचित नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि तब तक बच्चे का जीवन ही नहीं, बल्कि उसका भार उस पर नहीं होता। उस अवस्था में अपना भार स्वयं उठाने के लिए उसे धीरे-धीरे तैयार होना पड़ता है। इस तैयारी को ही 'शिक्षण' कहा जाता है।

दशरथ की दलील

मनु का यह वाक्य शब्द-प्रमाण के रूप में मैंने उपस्थित नहीं किया है। मनु का अर्थ कोई व्यक्तिविशेष नहीं। समाज के हजारों वर्षों के अनुभवों को ही 'मनु' कहा जाता है। विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिए दशरथ के पास राम को माँगने के लिए आये। दशरथ बोले : "ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः"—राम अभी सोलह वर्ष का नहीं हुआ, इतनी बड़ी जिम्मेदारी के काम के लिए मैं उसे तुम्हें कैसे दे दूँ? राम सोलह वर्ष के हो गये होते, तो दशरथ की यह दलील न होती। वसिष्ठ ने उन्हें समझाया : "विश्वामित्र के संरक्षण में यह काम होनेवाला है। वह एक शिक्षा-योजना ही है।" तब दशरथ यह बात समझ सके।

नयी तालीम का शिक्षा-काल

दशरथ की यह मान्यता मनु के उक्त वाक्य में है। आधुनिक शिक्षाविदों ने भी उसे मान्य किया है। चौदह वर्ष पूरे होने तक सात वर्ष की शिक्षा-योजना नयी तालीमवालों ने तैयार की है। प्रगतिशील देशों में यह कानून है कि चौदह वर्ष पूरे हुए बगैर बच्चों को कारखाने में काम न दिया जाय। मनु इनसे एक साल आगे हैं। वे १५ वर्ष पूरे हुए बगैर बच्चे को फॅक्टरी में काम पर जाने न देंगे और १६वाँ वर्ष लगने के बाद उसे कॉलेज में समय का अपव्यय भी करने न देंगे।

आदर्श विद्यापीठ

प्रश्न होगा कि "फिर क्या आपकी इस योजना के अनुसार कॉलेज खाली पड़े रहेंगे? फिर देश की उन्नति कैसे होगी? कॉलेज खाली नहीं पड़े रहेंगे, वे तो ठसाठस भर जायँगे। गरीबों के बच्चे उनमें भरती किये जायेंगे। कॉलेज में ऐसा दृश्य दीख पड़ेगा कि हर छात्र निजी श्रम से ज्ञानरूप अन्न और अन्नरूप ज्ञान कमा रहा है, दो हाथों से पेट का और दो आँखों से बुद्धि का भरण-पोषण हो रहा है। ज्ञान तथा कर्म का भेद ही मिट गया है। वहाँ बच्चों को कोई फीस नहीं लगेगी, बोर्डिंग का कोई खर्च नहीं लगेगा और न अध्यापकों को वेतन ही रहेगा। उद्योगालय, पुस्तकालय और प्रयोगालय की व्यवस्था सरकार द्वारा कर दी जायगी। पाठशालाओं में कोई छुट्टी न रहेगी। कारण, उससे किसीको कोई बन्धन नहीं मालूम पड़ेगा।

आज की खर्चीली शिक्षा

आज के कॉलेजों में गरीबों को कोई सुविधा ही नहीं है। हाँ, दो-चार गरीब बच्चों को कृपापूर्वक फीस की माफी मिल जाती है। पर हमारे कॉलेज सभी के लिए खुले रहेंगे। श्रीमानों के बच्चों को इतना कष्ट सहना संभव न हो, इसलिए श्रम में उन्हें एक-आध घण्टे की माफी देनी पड़े, तो बात दूसरी है। फिर भी उसमें उनकी दीनता ही प्रकट होगी और इसलिए कोई स्वाभिमानी बालक सहसा उसे कबूल नहीं करेगा।

हास्यास्पद विद्यापीठ

आज तो कृषि-कॉलेज भी शहर में ही खुलते हैं। मॅट्रिक पास हुए बगैर उनमें प्रवेश भी नहीं हो पाता। इसका मतलब यह हुआ कि बच्चों का कृषि-कॉलेज में प्रवेश भी तभी हो सकेगा, जब उनके बारे में यह विश्वास हो जायगा कि उनमें जाड़े-पाले और धूप-बारिश में काम करने की कतई शक्ति नहीं। कारण, आज की पद्धति के अनुसार मॅट्रिक पास होने का और कोई अर्थ ही नहीं। प्रोफेसर और छात्र कुर्सी-बेंच पर बैठकर कृषि का ज्ञान प्राप्त करेंगे! प्रयोग के तौर पर खेती नाममात्र की होगी और उसका उत्तरदायित्व भी मजदूरों पर होगा। प्रयोग वे ही करेंगे। बच्चे के खर्च के लिए उसके पिता को हर साल २५ एकड़ जमीन की पैदावार देनी पड़ेगी। उसके बिना काम चलने-वाला नहीं।

विद्यापीठ में स्वावलम्बन

चर्चा चल रही थी कि प्राथमिक शिक्षा के बाद उच्च शिक्षा के कार्यक्रम कैसे हों ? मैंने सुझाव दिया कि "बच्चे छह घण्टे मेहनत करके शरीर-श्रम से रोटी कमायें और दो घण्टे उसके परिपोषक ज्ञान-विज्ञान की उन्हें शिक्षा दी जाय। बच्चों पर खर्च न तो पाठशाला करे और न माता-पिता ही। फिर वे बच्चे चाहे गरीब के हों, चाहे अमीर के। ऐसा करने से ही सच्चा प्रयोग होगा और देश आगे बढ़ेगा।"

आज की दुर्दशा

आज हमने मनु-वाक्य के दोनों अर्थों पर पानी फेर दिया है। असंख्य दरिद्र बच्चों को रोटी के लिए पिसना पड़ता है। फिर भी उन्हें रोटी नहीं मिलती और शिक्षा तो उन्हें मिलती ही नहीं। दूसरी ओर, इसके विपरीत पचीस-पचीस साल तक भारभूत शिक्षा के चोचले चलते हैं। बिना काम किये तिजोरी-भर धन कमाने की चिंता लगी रहती है, जब कि करोड़ों को काम करके भी पेटभर खाना नहीं मिलता।

अत: "सोलह वर्ष तक स्वावलम्बन की शिक्षा और सोलह वर्ष के बाद स्वावलम्बन से शिक्षा"—यह सूत्र स्वीकार कर तदनुसार शिक्षा-योजना चलाये बगैर इस दुहरी दुर्गति से छुटकारा नहीं मिल सकता।

—'क्रान्त-दर्शन' से

ग्रामीण विश्वविद्यालय : २५ :

(तालीमी संघ-सम्मेलन, सेवाग्राम)

आवश्यकता से उत्पन्न विचार

'ग्रामीण विश्वविद्यालय' का नाम दीखनेमें बहुत बड़ा है। 'विश्वविद्यालय' एक विशाल शब्द है और उसका बहुत व्यापक अर्थ है, लेकिन उसकी एक सीधी-सादी व्याख्या नायकमजी ने आपके सामने रख दी। उन्होंने यह कहा कि "जहाँ का जीवन सर्वांगपूर्ण है, वही हमारा देहात का विश्वविद्यालय है।" और यह व्याख्या सही है एवं आज जो चर्चा निकली है, वह इस तरह की आवश्यकता में से निकली है। यानी हम कोई हवा में नहीं सोच रहे हैं, बल्कि जमीन पर यह सारा काम हो रहा है। एक आवश्यकता पैदा हुई, उसकी पूर्ति के लिए यह चीज सामने आयी।

हमने इतने साल बुनियादी तालीम चलायी, तो कुछ लड़के उसमें तैयार हो गये। हम उनको फिर उत्तर बुनियादी में ले गये। उनका वह कार्यक्रम खतम होने पर आया। अब हमारे सामने यह सवाल पैदा होता है कि इन लड़कों का हम क्या करें? उनका शिक्षण जहाँ तक हुआ, वही हमारा पूर्ण आदर्श है, ऐसा समझ-कर क्या उसे समाप्त करें? जितना वे पढ़ चुके, वह कोई कम नहीं। उससे वे देश को लाभ पहुँचा सकते और जीवन में अपने प्रयत्न से आगे प्रगति कर सकते हैं। लेकिन उनमें से अगर कुछ आगे पढ़ना चाहें, तो उनके लिए कुछ सुविधा है या नहीं? इसपर

हमने सोचा, तो हमें दीख पड़ा कि 'परिपूर्ण' की हमारी जो अधिक-से-अधिक व्याख्या है, वह आखिरी व्याख्या जीवन में जब अमल में आयेगी तब आयेगी, लेकिन 'परिपूर्ण' की जो कम-से-कम व्याख्या है, उस व्याख्या के मुताबिक भी वे लड़के पूर्ण हुए हैं और हमारे शिक्षण का नमूना दुनिया के सामने हमने रख दिया है, ऐसा नहीं है। इसलिए उनके आगे के शिक्षण की कोई व्यवस्था होनी चाहिए। इस तरह विश्वविद्यालय की आवश्यकता पैदा हुई।

नमूना अभी तैयार नहीं

अब बीच में यह भी सवाल पैदा हुआ कि क्या हम यह देहात के लिए अलग विश्वविद्यालय चलायेंगे और शहर के लिए अलग? मैं यह बात पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि 'बुनियादी' तालीम आदि से अन्त तक 'बुनियादी' ही रहनी चाहिए। आज जो विश्वविद्यालय चालू हैं, वे अगर नयी तालीम के हमारे 'विचार' को कबूल करें, तो उन्हें अपनी पद्धति में वैसा परिवर्तन करना पड़ेगा। लेकिन आज यह चीज सम्भव नहीं जान पड़ती। उसका एक कारण यह है कि उनका जो पुराना ढाँचा बना है, वह एकदम से नहीं बदल सकता। इसके अलावा इसका दूसरा कारण यह है कि देश के सामने हम अपने विद्यापीठ का अभी कोई नमूना पेश नहीं कर सके हैं, इसलिए हम अभी यह नहीं कह सकते कि सारे विश्वविद्यालय अब बदल दो। हमने जो बुनियादी काम किया है, वह इस हद तक आ पहुँचा है कि हम कह सकते हैं कि उसके जो प्रयोग और अनुभव हुए, उनके आधार पर सरकार की अभी की

जो प्राथमिक शालाएँ हैं, वे बदली जा सकती हैं। उससे उन्हें जरूर लाभ होनेवाला है, यह हम दावे के साथ कह सकते हैं, लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि विश्वविद्यालय का भी नमूना हमारे पास तैयार है और उस नमूने पर सारा ढाँचा बदल दें।

विद्यापीठ स्वावलम्बी हों

विश्वविद्यालय का जब हम विचार करें, तो हमारे पास जो लड़के हैं, उनका खयाल करके ही हमें कोई योजना बनानी चाहिए। नहीं तो होगा यह कि विश्वविद्यालय एक ऐसा व्यापक विषय है कि उसके बारे में कई तरह के लंबे, चौड़े और गहरे विचार हम करेंगे और कुल मिलाकर प्रत्यक्ष कोई चीज नहीं बनेगी।

अतः किशोरलालभाई ने जो एक बात रखी, वह महत्त्व की है। उन्होंने कहा कि "जब हमारे लड़के उत्तर-बुनियादी शिक्षा प्राप्त कर चुके, तो वे स्वावलंबी बन गये, इतना तो मान ही लेना चाहिए।" उनका यह कहना ठीक है। सिर्फ इसलिए नहीं कि हमारा देश दरिद्र है और शिक्षकों तथा विद्यार्थियों पर बहुत ज्यादा खर्च भी नहीं कर सकता, इसलिए हमें स्वावलंबन करना चाहिए, बल्कि इसमें वस्तुतः शिक्षण की ही दृष्टि मुख्य है। देश की गरीबी हमें इसमें प्रेरणामात्र दे रही है।

देहाती विश्वविद्यालय कैसा हो ?

इस दृष्टि से विचार करें, तो यह बात समझ में आ जायगी कि हमारे देहाती विश्वविद्यालय का स्वरूप कैसा होगा। उसके

शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों को जैसे सुसज्जित पुस्तकालय की आवश्यकता होगी, उसकी व्यवस्था कर दी जायगी। उनको जो औजार चाहिए, वे दिये जायँगे, जमीन आदि जो चाहिए, वह दी जायगी और मकान भी कुछ बनाकर दिये जायँगे, शेष वे खुद बनायेंगे। इतना करने के बाद उनसे कहा जायगा कि इसके आगे आपको और कोई चीज मिलनेवाली नहीं है। अब दोनों मिलकर एक सामूहिक जीवन जियें और देश के सामने नमूना पेश करें कि उत्तम-से-उत्तम समग्र जीवन कैसा होता है। ऐसे विश्वविद्यालय में ज्ञान-चर्चा होगी, प्रयोग किये जायँगे, उन प्रयोगों के जो नतीजे आयेंगे, वे देश के सामने रखे जायँगे, यह सब होगा। लेकिन मुख्य चीज यह होगी कि सीखने और सिखानेवाले, दोनों ही अपने पैरों पर खड़े हैं, हाथों से काम करते तथा अपनी रोटी कमाते हैं। जैसे-तैसे नहीं, बल्कि उत्तम-से-उत्तम तरीके से कमाते हैं, यह दिखा देंगे। उनका जो काम वहाँ होगा, जो विद्या पढ़ायी जायगी, जो औजार बनेंगे, जो मकान आदि बनेंगे, उन सब कामों में उनकी विद्या की झाँकी दीख पड़ेगी। हमारे विश्वविद्यालय के लिए किताबें पहले से नहीं बनेंगी, बल्कि विश्वविद्यालय ही अपने लिए किताबें बाद में बनायेगा। उसके अनुभव में से ही दुनिया को किताबें मिलनेवाली हैं। अगर हमारा विश्वविद्यालय इस तरह काम करेगा और देश के सामने एक नमूना पेश करेगा, तो वह बिना किसी शोरगुल के अपना काम करता रहेगा। ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव से जो चीज तैयार होगी, वह दुनिया को विश्वविद्यालय की भारी देन होगी।

—'सर्वोदय' से

आदर्श पाठशाला कैसी हो ? : २६ :

(तुमसर विद्यालय में)

हिन्दुस्तान की बुरी दशा

मेरी दृष्टि से हमारे शिक्षण में सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीज की है, तो विज्ञान की। हिन्दुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, फिर भी उसका उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिन्दुस्तान में खेती-प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहाँ प्रतिव्यक्ति सवा एकड़ जमीन है। इसके विपरीत फ्रांस में, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ जमीन है। इस पर से मालूम होगा कि हिदुस्तान की हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में अकेली खेती ही होती है और कुछ नहीं होता। यह हालत बदल देने के लिए हमारे यहाँ के विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभी को उद्योग में निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

आहार-विज्ञान

हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहाँ जो आदमी काम करे, उसे इन सारी बातों की जानकारी होनी चाहिए कि किस खाद्य पदार्थ में कितना उष्णांक है, कितना ओज है, कितनी चिकनाई है। उसमें यह हिसाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्र के मनुष्य को किस काम के लिए कैसे आहार की जरूरत होगी।

मल-विज्ञान

शौच को तो सभी जाते हैं। लेकिन स्कूलवालों को मल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान होना चाहिए। मैले का क्या उपयोग होता है? सूर्य की किरणों का उस पर क्या असर होता है? मैला अगर खुला पड़ा रहे, तो उससे क्या नुकसान है? उससे कौनसी बीमारियाँ पैदा होती हैं? जमीन को अगर उसकी खाद दी जाय, तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है?—आदि सारी बातों का शास्त्रीय ज्ञान मल-विज्ञान की सहायता से हमारे छात्रों को कराना चाहिए। मैंने तो उस पर एक सूत्र ही बनाया है—'प्रभाते मलदर्शनम्।' मल से हमें आरोग्य का ज्ञान होता है और यह जानकर कि शरीर मलागार है, देहासक्ति भी कम होती है।

आरोग्य-विज्ञान

कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ? बीमारी मुफ्त में थोड़े ही आयी है, तुमने उसे गिरह से कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथि की तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यों आयी, कैसे आयी आदि बातों की खोज करनी चाहिए। जब वह आ ही गयी है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षण की बात है। 'वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये।' यह दूसरों के साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज न होना चाहिए।

खादी-विद्या

तुम यहाँ सूत कातते हो, खादी भी बना लेते हो। तुम्हें

बधाई है। लेकिन खादी के बारे में शास्त्रीय प्रश्नों के जवाब यदि तुम न दे सको, तो पाठशाला और उत्पत्ति-केंद्र यानी कारखाने में फर्क ही क्या रहा? लेकिन मैं तो अपने कारखाने से भी इस ज्ञान की आशा रखूँगा।

ज्ञानदृष्टि आवश्यक

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी, लेकिन दोनों के भोजन करने में काफी फर्क होना चाहिए। विद्यार्थियों का भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह लिखकर रखेगा कि उसमें से कितना चोकर निकला। मान लीजिये कि सेर में आठ तोले चोकर निकला। यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसी के यहाँ जाकर वहाँ का चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटे में से ढाई तोले ही चोकर निकला। दस प्रतिशत चोकर निकलने में क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेट में जाय, तो नुकसान क्या होगा?—आदि प्रश्न उसके मन में उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। तब ऐसा होगा, जैसा कि गीता में कहा है, तभी उसका हरएक काम ज्ञान-साधन होगा।

उद्योग में विज्ञान

इस प्रकार प्रयोग-बुद्धि और ज्ञान-दृष्टि से प्रत्येक काम करने में थोड़ा खर्च तो होगा ही, लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूल में जो चरखा होगा, वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे

चरखे से काम नहीं चलेगा। स्कूल में काम चाहे थोड़ा कम ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमें से जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिये जायंगे। रोझियों में से जब इतने बिनौले निकले, तब व्हेरम में से इतने क्यों? इस तरह का सवाल पूछा जायगा और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटर के आकार का होकर भी दोनों के वजन में इतना फर्क क्यों? बिनौले में तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरह के दूसरे धान्य कौनसे हैं? इसके लिए तराजू की ज़रूरत होगी। वह बाजार से नहीं खरीदी जायगी। स्कूल में ही बनायी जायगी। हरएक काम अगर इस ढंग से किया जाय, तो विज्ञान शुरू हो गया। इस तरह यदि हर बात की जानी लगे, तो ज्ञान कितना मनोरंजक होगा! फिर उसे कौन भूलेगा? अकबर किस सन् में मरा, यह रटने की क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छाती पर क्यों सवार हुआ? मैं इतिहास रटने को नहीं पैदा हुआ हूँ। मैं तो इतिहास बनाने के लिए पैदा हुआ हूँ।

विज्ञान और अध्यात्म

दो विद्याएँ सीखना आवश्यक हैं: (१) हमारे आसपास की चीजों को परखने की शक्ति अर्थात् विज्ञान और (२) आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए बीच में निमित्तमात्र भाषा की जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाँ का काम करती है। अगर मैं चिट्ठी में कुछ भी न

लिखूँ, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसाँ पहुँचा देगा। भाषा विद्या का वाहन है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूँगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं बैठकर रोऊँगा ? मैं बढ़ई के पास जाकर उसे सुधरवा लूँगा। उसी तरह अगर मुझे बिच्छू ने काट खाया, तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। यही मेरी शाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का परचा निकालने की झंझट में नहीं पड़ूँगा। लड़कों की बोलचाल से ही मैं उसका भाषा-ज्ञान भाप जाऊँगा।

पाठशाला सजायें

स्कूल में होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञान का साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलों को सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्री रामदास स्वामी ने कहा है : "ईश्वर का वैभव बढ़ाओ।" लोगों को अपने घर सजाने के बदले शालाएँ सजाने का शौक होना चाहिए। उन्हें शाला की आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिए।

ऊपर की सभी बातें मैंने अपने अनुभव से बतायी हैं। इनका तुम्हारी मंडली में उपयोग होगा, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

—'जीवन-दृष्टि' से

सेवाग्राम का प्रयोग　　　　　　　: २७ :

आज सुबह मैं सेवाग्राम हो आया। वहाँ तालीमी-संघ में एक महान् प्रयोग चल रहा है। बच्चे अनाज पैदा करते हैं, साग-सब्जी पैदा करते हैं और कुछ फल पैदा करने का भी प्रयत्न जारी है। कताई से लेकर बुनाई तक सारी क्रियाएँ स्वयं करके कपड़ा तैयार कर लेते हैं। वे अपने हाथ से आटा पीसते हैं, खुद रसोई बनाते हैं। घर का सारा काम स्वयं कर लेते हैं। बीमारों की सेवा करते हैं। घानी चलाकर तेल पेरते हैं। अब मिट्टी के बर्तन बनाने की भी तैयारी चल रही है। अपना जमा-खर्च स्वयं लिखते हैं और यह सब करते हुए कठिन शिक्षा भी ग्रहण करते हैं। उनका वह प्रयोग देखकर यही इच्छा होती है कि हम भी बच्चों के साथ काम में हाथ बँटायें।

ज्ञान और कर्म

इस शिक्षा-पद्धति ने विचारों का बहुत कुछ झगड़ा ही मिटा दिया है। कुछ विचारक कहते हैं कि ज्ञान और कर्म में विरोध है। कुछ विचारक कहते हैं कि विरोध तो नहीं है, पर दोनों में भेद है। कुछ का कहना है कि भेद तो है, पर दोनों का संयोग होना चाहिए। पर इस पद्धति से दोनों एकरूप हो जाते हैं। कर्म से ज्ञान मिलता है, ज्ञान से कर्म सम्पन्न होता है और ज्ञान तथा कर्म, दोनों के मिलने से चित्त का विकास होता है। देखने में तो बच्चा कर्म करता दिखाई पड़ता है, पर भीतर से वह ज्ञान प्राप्त करता रहता है। शिक्षक उसकी सहायता के लिए निमित्तमात्र होता है।

नयी पद्धति का लाभ

यह सब लिखकर मैं यह नहीं सुझाना चाहता कि उस जगह जो कुछ चल रहा है, वह परिपूर्ण या निर्दोष ही है। वहाँ की कमियाँ मैं जानता हूँ, पर उसमें की दृष्टि निर्दोष होने से चित्त का समाधान होता है। हिंदुस्तान में सर्वत्र इस पद्धति की शिक्षा चल पड़े, तो ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि सारे भेद मिट जायँगे। श्रम की प्रतिष्ठा कायम होगी। समाज को अच्छे सेवक मिलेंगे, अच्छे रक्षक मिलेंगे। हर गाँव स्वावलंबी होगा।

जानकारी और विकास

देख रहा हूँ कि आज भी इस ओर हम लोगों का जितना ध्यान जाना चाहिए, उतना नहीं गया। जिन्होंने प्राचीन पद्धति से शिक्षा पायी, वे बच्चों से इतना ही पूछते हैं कि क्या जानकारी हासिल की। वे नहीं जानते कि जानकारी का शिक्षा से, चित्त-विकास से बहुत ही कम संबंध है। आवश्यकता पड़ने पर बाह्यज्ञान प्राप्त करने की योग्यता बच्चे में हो, तो बस है। वह योग्यता हासिल करा देना शिक्षा का काम है। पर सचाई, कार्यकुशलता, सेवा-भाव आदि गुण—ये ही मुख्य चीजें हैं। इस दृष्टि से देखने पर यही कहना पड़ेगा कि शिक्षाशास्त्र में यह बहुत बड़ी खोज है।

माता-पिता ध्यान दें

जिन्हें ईश्वर ने बच्चे दिये हैं, अगर वे इस पद्धति का अध्ययन करें और अपने बच्चों को यही शिक्षा दें, तो बहुत बड़ा लाभ

होगा। अधिकतर होता यह है कि हम अपने बच्चों को अपनी योजनाओं से दूर रखते हैं। योजना दूसरे के लिए बची रहती है। फलतः वह सारहीन बन जाती है। अगर यही शिक्षा हम अपने बच्चों को दें, तो वह कसी जा सकेगी और फिर उसके हिन्दुस्तानभर में फैलने में देर न लगेगी। कारण, शिक्षा ही ऐसी चीज है कि वहाँ लम्बाई-चौड़ाई का महत्त्व नहीं है, केवल गहराई का ही महत्त्व है। यदि एक जगह भी शिक्षा का एक-आध गहरा प्रयोग हो जाय, तो स्वतः उसका सर्वत्र प्रचार हो जाता है। इसलिए सरकार इस बारे में क्या कर रही है, इसकी चिन्ता छोड़ अगर हम लोग इसमें रस लें और अपने बच्चों को इस पद्धति से शिक्षा दें, तो बहुत बड़ा काम होगा।

—'सेवक', मार्च १९४८

नित्य-नयी तालीम : २८ :

नित्य-नयी तालीम का अर्थ

बच्चों की तालीम एक शुभ कार्य है। यह सेवाग्राम में बरसों से चल रही है। इसे 'नयी तालीम' नाम दिया गया है लेकिन मैं इसे 'नित्य-नयी तालीम' कहता हूँ। नित्य-नयी तालीम का मतलब है : जो कल थी, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगी, जैसे नदी का पानी। नदी बहती रहती है, लेकिन प्रतिक्षण उसका पानी नया होता है। वैसे ही रोज के अनुभव के आधार पर जो नित्य बदलती रहती है, वह है, नित्य-नयी तालीम।

बना-बनाया ढाँचा व्यर्थ

लोग तालीम का एक ढाँचा बनाते हैं। जहाँ ढाँचा बना, वहाँ तालीम बिगड़ी। इसलिए मैंने अपने जीवन में निश्चय कर लिया है कि इस तरह का ढाँचा जीवन में नहीं बनने दूँगा। रोज नये-नये अनुभव आते हैं, उनके अनुसार हमारा जीवन नित्य बदलने की शक्ति हममें होनी चाहिए।

स्थानीय पाठ्य पुस्तकें हों

हमने बुनियादी तालीम से आरंभ किया था। अब पूर्व-बुनियादी में प्रवेश कर रहे हैं। उसमें भी देहातों की दृष्टि से काम करना है। इसलिए पुराने विचार यहाँ काम नहीं देंगे। हर देहात की परिस्थिति अलग-अलग होती है। उस परिस्थिति का खयाल करके तालीम का विचार करना होगा। जिस देहात में नदी का किनारा होगा, उस देहात के बच्चों की तालीम एक ढंग की होगी, तो जिस देहात में पहाड़ होंगे, वहाँ वह दूसरे ढंग की होगी। जिस देहात के आसपास जंगल होगा, वहाँ की तालीम तीसरे ढंग की होगी। हर देहात का वातावरण देखकर अलग-अलग ढंग की तालीम की रचना करनी होगी। तालीम का बना-बनाया ढाँचा या बनी-बनायी पुस्तकें सब देहातों के लिए काम नहीं देंगी। आजकल तो सारे प्रान्त के लिए एक ही किताब सब स्कूलों में चलती है। ऐसी पुस्तक में हर देहात की जो विशेषता या भिन्नता होती है, उसका कुछ खयाल नहीं रहता। वह एक सर्व-सामान्य पुस्तक होती है। इसलिए बच्चों को उसमें दिलचस्पी

पैदा नहीं होती और उस गाँव के लिए वह खास काम की भी नहीं होती।

जिंदा इतिहास-भूगोल

किताबें तो हमारे स्कूलों के लिए भी चाहिए, लेकिन हमारी किताब हर देहात की परिस्थिति ध्यान में रखकर अलग-अलग प्रकार की होगी। उस-उस देहात का वातावरण उसमें रहेगा। सेवाग्राम के स्कूल में अगर इतिहास पढ़ाना होगा, तो वहाँ जितनी संस्थाएँ हैं, उनका इतिहास उस पुस्तक में होगा। सेवाग्राम गाँव कैसे बना, यह उसमें बताया गया होगा। गाँव के बूढ़े लोगों के अनुभव उसमें दिये होंगे। इस तरह से वह एक जिंदा इतिहास होगा। भूगोल भी सेवाग्राम के इर्द-गिर्द से शुरू होगा। जिस देहात में हम होंगे, वह सारी दुनिया का मध्य-बिंदु है, क्योंकि हम वहाँ रहते हैं और उसके इर्द-गिर्द दुनिया पड़ी है, ऐसा समझ-कर हमारा भूगोल बनेगा।

नित्य परिवर्तनशीलता

यह है हमारा विचार। नित्य नया अनुभव लेते जायँगे और प्रयोग करते जायँगे। पिछले अनुभव पर जिस चीज को बनाया होगा, उसे नया अनुभव मिलने के कारण तोड़ दिया और दूसरी नयी चीज बनायी। इस तरह बनाते जाने और तोड़ते जाने का सिलसिला लगातार चलता रहेगा।

नयी तालीम का तत्त्व

मुझसे अगर कोई पूछेगा कि "बच्चों की तालीम का तत्त्व

क्या है ?" तो थोड़े में मैं यही कहूँगा कि "तालीम देनेवाले शिक्षकों को बच्चे बनना है और तालीम लेनेवाले बच्चों को बड़े बनना है। शिक्षक अगर बच्चा नहीं बन सकता, तो वह तालीम नहीं दे रहा है और बच्चा अगर बड़ा नहीं बनता, तो वह तालीम नहीं पा रहा है, यही समझना चाहिए।"

प्रार्थना मातृभाषा में हो

अब बच्चों के साथ हम जो काम करेंगे, वह हमारे रोज के जीवन से संबंध रखनेवाला होना चाहिए । हर काम के पीछे जो विचार होगा, वह बच्चों को समझाना चाहिए। जैसे, हम रोज प्रार्थना करते हैं, तो वह बच्चों की मातृभाषा में होनी चाहिए। कुरान अरबी में पढ़ेंगे, तो पुण्य लगेगा और मराठी में गाया कि कुरान खतम हो गया, ऐसा नहीं लगना चाहिए। यही बात वेद के मंत्रों के बारे में और अन्य प्रार्थनाओं के बारे में भी लागू होती है। प्रार्थना जब बच्चों की मातृभाषा में होगी, तभी वे उसका अर्थ समझेंगे। जहाँ अर्थ का ज्ञान नहीं होता, वहाँ प्रार्थना का कोई खास मतलब नहीं रहता।

ट्रेनिंग लेनेवाले शिक्षक

यहाँ दूसरे प्रांतों से जो शिक्षक आते हैं, उनके लिए कुछ अभ्यासक्रम रखा जाता है। वे यहाँ नयी तालीम के विषय पर व्याख्यान सुनते हैं, लेकिन मैं तो उन्हें पूरे सालभर में अभी आपके सामने दिया उतना ही, एक व्याख्यान दूँगा और कहूँगा कि "अब काम में लग जाओ !" और रोज के काम में जो भी मुश्किलें

आयें, उनकी शाम को चर्चा करना चाहूँगा। बी० ए०, एम० ए० वगैरह की जो तालीम अब तक उन्होंने पायी है, उसमें तो वे व्याख्यान ही सुनते थे। यहाँ भी वे व्याख्यान ही सुनते रहेंगे, तो सच्ची तालीम नहीं पा सकेंगे। मैं उनसे कहूँगा कि "आपको सरकार की ओर से जो कुछ छात्रवृत्ति मिलती है, उसे आप घर भेज दें, लेकिन यहाँ आप एक माह तो अपनी रोटी कमाकर दिखायें !" "क्या आप दिनभर में दस-बारह गज बुन लेते हैं?" ऐसा मैं उनसे पूछूँगा। इस पर यदि वे कहेंगे कि "प्रत्यक्ष बुनना तो हम नहीं जानते, लेकिन बुनाई का उसूल जानते हैं", तो मैं कहूँगा : "खाने का उसूल तो आप जानते हैं, फिर रोज खाते क्यों हैं?" मतलब यह कि हमारी विद्या केवल शब्द-विद्या नहीं होनी चाहिए, वह वीर्यवती होनी चाहिए।

पुरानी विद्या का मोह

लेकिन दरअसल बात ऐसी है कि हमारे दिमागों में पुरानी विद्या ही भरी है। शिक्षक यहाँ बच्चों को रसोई, कताई, बुनाई आदि सिखाते हैं, लेकिन कुल मिलाकर यह सोचते हैं कि बाहर के स्कूलों के बच्चों की तुलना में हमारे बच्चों का स्तर कितना है? बाहर के बच्चों के साथ हमारे बच्चों की तुलना ही क्या हो सकती है? हमारा बच्चा अच्छी तरह तैर सकता है, इतना ही नहीं, बल्कि दूसरे को बचा भी सकता है। क्या बाहर के स्कूल का बच्चा इस तरह तैर सकेगा? वह डूब जरूर सकता है। लिखने-पढ़ने की कोई कीमत नहीं है, ऐसा मुझे नहीं कहना है,

लेकिन दूसरे दस-बीस गुण होते हैं, उनमें से यह भी एक है। उसे इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाय ?[1]

—'सेवक' से मार्च १९५०

गाँव का स्फूर्तिस्थान : २६ :

कल मैंने प्रार्थना में कहा था कि 'आप हिंदुस्तान का नमक खाये हैं। अगर आप लोग कुछ नहीं कर सके, तो हिंदुस्तान में और कोई कर सकनेवाला नहीं है। जो लोग सरकार में दाखिल हो गये हैं, वे हमारे में से उत्तम-से-उत्तम लोग हैं। लेकिन हमें समझना चाहिए कि सरकार सभी काम नहीं कर सकती। नयी तालीम का विषय भी ऐसा ही है कि उसका कुछ हिस्सा सरकार कर सकती है और कुछ नहीं भी कर सकती।

नयी तालीम सर्वसंग्राहक

नयी तालीम इतनी व्यापक है कि उसमें हिंदुस्तान की सेवा का हरएक प्रकार आ जाता है। अभी हमने 'सर्व-सेवा-संघ' बनाया, तो नायकमजी ने कहा कि "इसकी जरूरत क्या है? नयी तालीम ही सर्व-सेवा-संघ है।" इस विचार को मैं मानता हूँ। लेकिन सर्व-सेवा-संघ की कल्पना भिन्न है। हरएक संघ की योजना-शक्ति अलग-अलग होती है। उन्हें जोड़ने के लिए सर्व-सेवा-संघ है।

तालीमी-संघ की मर्यादा

'तालीमी-संघ' एक चीज है और नयी तालीम दूसरी चीज।

---

[1] सेवाग्राम में दिनांक १६-२-५० को बुनियादी शाला की इमारत की नींव डालते समय किया गया भाषण।

तालीमी-संघ एक छोटी चीज है और नयी तालीम बड़ी चीज। तालीमी-संघ कुछ मार्गदर्शन करेगा। लेकिन उसे खुद को जितना दर्शन हुआ होगा, उतना ही वह दूसरों को देगा। तो, पहली बात मुझे आपको यह कहनी है कि तालीमी-संघ के मार्गदर्शन को आप बहुत महत्त्व न दें। आपको अपनी स्वतन्त्र बुद्धि चलानी चाहिए।

पुराने लोग अपूर्ण

समझना यह चाहिए कि हम लोग, जिन्होंने यह योजना बनायी है, वे सारे कच्चे हैं। हमें खुद को जो तालीम मिली है, वह तो पुरानी ही है। हमारे विचार में यह एक नयी दृष्टि आयी है सही, पर इसके कारण हमारा जीवन भयंकर बन गया है। मैंने अपने जीवन को 'नरसिंह' की उपमा दी है। नरसिंह पूरा पशु भी नहीं था और न पूरा मनुष्य ही। उसके पहले 'वराह' हुआ, वह पशु था। उसके बाद का 'वामन' मनुष्य था। लेकिन यह बीच का जो नरसिंह-अवतार है, वह सब अवतारों से भयंकर है। वैसे ही हम लोग भयंकर हैं, जिन्होंने तालीम तो पुरानी पायी है और विचार सोचा है नयी तालीम का।

नयी तालीम को पैसा नहीं चाहिए

मैं तो यह मानता हूँ कि जो शिक्षा-पद्धति हम चलाना चाहते हैं, उसके लिए एक कौड़ी की भी जरूरत नहीं होनी चाहिए। भगवद्गीता में कहा है : "त्यक्तः सर्वपरिग्रहः" "शारीरं केवलं कर्म"—सारा परिग्रह छोड़कर शरीर से काम करो।

मान लें, मैं किसी देहात में जाकर नयी तालीम चलाना

चाहता हूँ, तो वहाँ के मजदूरों के साथ खेत में काम करने जाऊँगा और खेत का मालिक जो मजदूरी देगा, उस पर गुजारा करूँगा। इस तरह अगर मैं जीना शुरू कर दूँगा, तो नयी तालीम का उत्तम शिक्षक बनूँगा। हमारे जो उत्तम शिक्षक हो गये हैं, उन्होंने प्राचीन-काल में इसी तरह काम किया है। कबीर एक उत्तम शिक्षक था और उसकी तालीम को हिन्दुस्तान के लोग अभी तक भूले नहीं हैं। ऐसा ही एक शिक्षक 'वळ्ळुवन्' था, जिसने तमिलनाड़ को सर्वोत्तम शिक्षा दी है। 'नामदेव' दर्जी का काम करता था, तो कबीर और वळ्ळुवन् बुनने का काम। ऐसे ही दूसरे संत हो गये, जो कुछ-न-कुछ काम करते थे। उन्होंने हमें सिखाया है कि "मुख में परमेश्वर का नाम और हाथ में उत्पादन का काम।" तो अब मैं पूछूँगा कि देहात में जाकर खेत में काम करने के लिए सिवा मेरे दो हाथों के और मुझे क्या चाहिए?

देहात में नयी तालीम

गाँव में जाने के लिए लोग डरते हैं। गाँव में जितना प्रेम है, उसकी तुलना शहरवाले अपने जीवन से करें, तो मालूम होगा कि शहरवालों का जीवन कितना दरिद्र है। ग्राम में एक समष्टि-जीवन है। शहर में हरएक का जीवन अलग-अलग है। शहर में लोग अपने स्वार्थ के लिए इकट्ठे हुए हैं। इसीलिए किसी कवि ने कहा है कि "भगवान् ने ग्राम निर्माण किये और मनुष्य ने शहर।" अगर शिक्षण की योग्यता रखनेवाला मनुष्य मजदूरों में जाकर काम शुरू कर देगा, तो वह खुद सीखेगा और उन्हें भी

सिखायेगा। वहाँ के लड़कों को हम रात को या दोपहर को जब समय मिलेगा, तब सिखा सकते हैं। अगर आपको चरखे की जरूरत पड़ी, तो वह चरखा अपना दाम पंद्रह दिन में चुका देगा। अगर आप तकली की जरूरत समझें, तो तकली अपनी कीमत एक दिन में चुका देगी। यही उन छोटे-छोटे औजारों की खूबी है। आप अपने औजार खुद भी बना सकते हैं और अगर वैसे बनाते हैं, तो आप देखेंगे कि नयी तालीम के लिए वह बहुत अच्छा विषय हो जाता है। इसलिए शरीर परिश्रम-निष्ठा, अपने देहाती भाइयों पर प्रेम, काम करने की काबिलीयत और वज्ञानिक दृष्टि लेकर स्वतंत्र बुद्धि से आप गाँव में जाइये और आपको जैसा सूझे, उस तरह से तालीम देना शुरू कर दीजिये।

छुट्टी का प्रश्न

मैंने पहले ही कहा कि 'मैं तो गाँव में आरंभ ही खेती का मजदूर बनकर करूँगा।' लेकिन मैं देखता हूँ कि हमारे स्कूलों को उन दिनों छुट्टी होती है, जिन दिनों खेती पर कोई काम नहीं रहता है। गर्मी की छुट्टी हमें अंग्रेजों ने सिखायी और हमने उसीको पकड़ रखा। उन्होंने सिखाया कि गर्मी में काम कम होता है और 'एनर्जी' (उत्साह) टिकी नहीं रहती। लेकिन हम देखते हैं कि पृथ्वी के जिस भाग में बहुत उष्णता होती है, उसमें मजबूत पेड़ पैदा होता है। इसलिए स्कूल को अगर छुट्टी देनी है, तो बारिश के दिनों में देनी चाहिए। लेकिन मैं उसे छुट्टी नहीं कहूँगा। कारागार के लिए छुट्टी की बात समझ में भी आती

है और चूँकि हमारे पुराने स्कूल जल जैसे थे, इसलिए उन्हें छुट्टी की आवश्यकता थी। लेकिन हमारे लिए तो एक दिन भी छुट्टी का नहीं होना चाहिए। अगर ज्ञान में आनन्द है, तो छुट्टी कैसी ?

बुद्धि द्वारा क्रान्ति

मुझे याद है कि मैं पवनार से सुरगाँव, जो वहाँ से तीन मील पर है, रोज भंगी काम के लिए जाता था। बारिश के दिनों में भी जाता था। तो लोगों ने पूछा : "इतनी बारिश है, तो आप क्यों आते हैं ?" मैंने कहा : "भाई, दूसरों को छुट्टी हो सकती है, लेकिन भंगी को छुट्टी कैसे ?" मेरा आदर्श तो सूर्यनारायण है। सूर्यनारायण तो सबसे बढ़कर भंगी है। हम इतनी गंदगी करते हैं कि हिन्दुस्तान में अगर अच्छा सूर्य-प्रकाश न होता, तो हम कबके खतम हो जाते। लेकिन मुझे दुःख इस बात का हुआ कि सूर्यनारायण का अनुकरण मैं सालभर नहीं कर सका और बीमारी के कारण ९ दिन काम पर नहीं जा सका। मेरे काम का उस गाँव पर यह परिणाम हुआ कि 'भंगी' के काम को गाँववाले एक अत्यंत पवित्र काम समझने लगे।

एक दिन मैंने देखा कि गणपति-उत्सव के दिन मेरे जाने के पहले ही सारा गाँव साफ हो गया। मैं वहाँ सुबह सात बजे पहुँचा। सारा गाँव साफ देखकर मैंने पूछा कि "गाँव किसने स्वच्छ किया ?" गाँववालों ने कहा : "आज गणपति-उत्सव का दिन था, तो हम लोगों ने सोचा कि आज कोई पवित्र काम करना चाहिए अतः हमारे नौजवानों ने यह काम कर डाला।" मैं इसको

क्रांति कहता हूँ। ऐसी क्रान्ति कोई राज्य-सत्ता नहीं कर सकती। इसीलिए जब मैंने कल सुना कि 'सत्ता के बगैर समाज-क्रांति नहीं हो सकती' तो वह बात मुझे जँची नहीं। मैं तो इससे बिलकुल उल्टा मानता हूँ। कोई भी सरकार क्रांति नहीं कर सकती। क्रांति करना सरकार का काम ही नहीं है।

मैं तो कहूँगा कि इस तरह की क्रांति का काम तालीमी-संघ भी नहीं कर पायेगा। यह तो आप लोगों में भगवान् ने जो बुद्धि दी है, वह बुद्धि ही क्रांति कर सकेगी। क्योंकि अन्ततः तालीमी-संघ भी एक जड़ वस्तु है और मनुष्य की आत्मा है चेतन वस्तु। जिसे हम संघ कहते हैं वह जड़ है, व्यक्ति चेतन है।

विद्यालय द्वारा ग्राम-सेवा

हमारे स्कूल का शिक्षक सारे गाँव का सेवक भी होना चाहिए। गाँव की शाला सेवा का केन्द्र होगी। गाँव को औषधि देनी है, तो वह स्कूल की मार्फत दी जायगी और लड़के उसमें मदद देंगे। गाँव में सफ़ाई करनी है, तो शाला उसका केन्द्र बनेगी। और स्कूल के लड़के तथा शिक्षक गाँववालों को मदद करेंगे। गाँव में अगर कोई झगड़े होते हैं, तो उनका निर्णय करने के लिए भी लोग गाँव के शिक्षक के पास पहुँचेंगे। गाँव में कोई उत्सव करना है, तो उसकी योजना भी शाला करेगी। इस तरह गाँव का केन्द्रस्थान विद्यालय बनेगा। जो चीज गाँव में है, उसका विकास विद्यालय करेगा और जो चीज गाँव में नहीं है, उसकी स्थापना करेगा। कल हम खेती और बुनाई की चर्चा कर रहे थे। खेती

का महत्त्व है, क्योंकि वह सारे देहात में चल रही है। बुनाई का महत्त्व है, क्योंकि वह कहीं चल नहीं रही है। इसलिए विद्यालय के लोग खेती में पड़ते हैं, तो उसका विकास करना है और बुनाई की स्थापना करनी है।

पैसे की माया में न पड़ें

खेती या बुनाई में से, अथवा बढ़ई-काम में से हमें कितना पैसा मिलेगा, यह सवाल गलत है। हमें समझना चाहिए कि बुनने में से हमें पैसा नहीं मिल सकता। उसमें से कपड़ा मिलेगा। खेती में से हमें पैसा नहीं मिलेगा, बल्कि अनाज मिलेगा। बढ़ई-काम में से हमें पैसा नहीं मिलेगा, बल्कि मकान मिलेगा। इन चीजों की पैसे के साथ हम तुलना ही नहीं कर सकते। दूध की कीमत ज्यादा है और पानी की कम है, ऐसा लोग कहा करते हैं। लेकिन मैं पूछूँगा कि "प्यास लगने पर क्या दूध से काम चलेगा?" बात ऐसी है कि परमेश्वर की सृष्टि में जो चीज अत्यंत महत्त्व की होती है, वह सबको आसानी से मिल जाय, ऐसी योजना है। इसलिए पैसे का खयाल छोड़कर सारे जीवन को पूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए।

नयी तालीम में से कठिनाइयों का हल

हमारे सब कामों का आधार शिक्षकों पर है। इसलिए हिन्दुस्तान और दुनिया में क्या चल रहा है, इसका उत्तम अभ्यास हमारे शिक्षकों को होना चाहिए और जो-जो मुश्किलें देश के सामने आती हैं, उनका हल शिक्षकों के पास तैयार रहना चाहिए। कल यहाँ चर्चा चल रही थी कि क्या हिन्दुस्तान अपना

सारा अनाज खुद पैदा कर सकता है ? एक भाई ने कहा : "इसका उत्तर तो जयरामदासजी भी नहीं दे सके, तो हमारे शिक्षक क्या देंगे !" लेकिन मैं कहता हूँ कि "जयरामदासजी भले ही एक दफा इसका उत्तर न दे सकें, लेकिन हमारे शिक्षकों के पास इसका उत्तर होना चाहिए।" इसका कारण यह है कि जयरामदासजी को विश्वरूप-दर्शन है और विश्वरूप-दर्शन से तो अर्जुन भी घबरा गया था। लेकिन हमारा शिक्षक एक गाँव को सारी दुनिया समझेगा। इसलिए अगर उस गाँव का मसला वह हल करता है, तो सारी दुनिया का मसला हल हो सकता है, इसका दर्शन उसे होगा। वह जयरामदासजी को सलाह दे सकता है। वह कह सकता है कि हमारे गाँव में आकर देखिये, हमने अनाज का मसला कैसे हल किया है। ऐसे सब प्रयोग व्यापक दृष्टि से हमारे यहाँ चलने चाहिए और हमारे देश की कठिनाइयों का हल नयी तालीम में से हमें मिलना चाहिए।

सत्य-निष्ठा निर्माण करें

अब एक बात और बतानेवाला हूँ, जो ऊपर की सब बातों से भी ज्यादा महत्त्व की है। वह है : सत्य-निष्ठा। अपने स्कूलों में सत्य-निष्ठा निर्माण करने का हमें अधिक-से-अधिक प्रयत्न करना चाहिए। लड़कों पर हमेशा विश्वास ही रखना चाहिए। लड़का जो भी कहता है, सही है, ऐसा समझकर चलना चाहिए। जो सत्य-निष्ठ होता है, वह दूसरे पर हमेशा विश्वास रखता है।

तीस साल पहले की बात है। मैं उस समय काशी में था।

एक दूकान पर मैं ताला खरीदने गया था। मेरी आदत है कि चीज लेनी न भी हो, तो भी उसके दाम पूछ लेना। इसलिए मैं ताले की कीमत जानता था। दूकानवाले ने ताले की कीमत दस आने बतायी। मैं जानता था कि उसकी कीमत तीन आने है। मैंने दूकानवाले से कहा : "इस ताले की कीमत तीन आने है, यह मैं जानता हूँ; लेकिन तुम दस आने कहते हो, तो मैं दस आने दे देता हूँ।" दस आने देकर मैं ताला ले आया। उस दूकान पर से होकर मेरा घूमने का रास्ता था, अत: मुझे रोज उस दूकान पर से गुजरना पड़ता था। दो-तीन हफ्तों के बाद उस दूकानवाले ने देखा कि मैं दूकान पर से जा रहा हूँ और दूकान पर दूसरे ग्राहक नहीं हैं, तो उसने मुझे बुलाया। न मालूम उसे क्या लगा होगा। उसने कहा : "ताले के दाम तीन आने थे। ये सात आने वापस ले जाइये।" मेरी आँखों में आँसू आ गये। मुझे ऐसी कोई अपेक्षा नहीं थी। मुझे लगा कि ईश्वर ने मुझे सत्य-निष्ठा का बोध दे दिया। लेकिन हो सकता है कि परमेश्वर हमेशा ऐसा नहीं करेगा। वह भक्त की ज्यादा कसौटी कर सकता है। इसलिए लोगों के दिल पर हमारी सत्य-निष्ठा का कोई असर न हो, फिर भी हमें सत्य-निष्ठ ही रहना चाहिए। . . .

नयी तालीम प्रगति क्यों नहीं करती ? : ३० :

(हिन्दुस्तानी तालीम-संघ, शेरघाटी में शिक्षकों से होनेवाली चर्चा)

बिहार राज्य में बुनियादी शिक्षा का एक व्यापक और गंभीर प्रयोग कितने ही वर्षों से चल रहा है। सारे देश की आँखें इस

प्रयोग की ओर लगी हैं। किन्तु जैसा काम होना चाहिए, वैसा नहीं दीखता। गाँधीजी कहते थे कि नयी तालीम को स्वावलम्बी होना चाहिए। पर आज तो ऐसी शिकायत है कि नयी तालीम महंगी हो रही है।

नयी तालीम के शिक्षक स्वावलंबी नहीं

इसका कारण यह है कि हम मूल्य-परिवर्तन की बात तो करते ह, पर आज की नयी तालीम में वह नहीं दिखाई देता। जिस तरह शिक्षा-विभाग में दूसरी जगह वेतन का मान कम-ज्यादा है, वैसे ही नयी तालीम की संस्थाओं में भी। वही नौकरी की दृष्टि, आगे की वृद्धि का विचार आदि इसमें भी चलता है।

सरकार का अधूरा चिन्तन चलता है। पुराने ढंग के स्कूल चाहे जितने खोलो, वे तो ग्रँड ट्रंक रोड जैसे हैं और नयी तालीम के स्कूलों में कुछ खतरा है।

केवल ऊँचे पद से क्या होगा ?

शिक्षा-विभाग के एक अधिकारी ने वीच ही में कहा : "सरकारी-विभाग में उच्च अधिकारी का उत्तम होना जरूरी है।" आपने अपनी बात अच्छे ढंग से रखी है। लेकिन इसमें अड़चन यह है कि नयी तालीम की ट्रेनिंग पाया हुआ जो मनुष्य अपनेको अपने पैरों पर खड़ा रहने में असमर्थ पायेगा, वह आपके कहने के अनुसार ऊँचे पदों पर पहुँचने पर भी बेकार साबित होगा। कोई स्वावलम्बी लोहार अगर प्रधानमंत्री बन जाय, तो शायद वह अच्छा काम कर ले, किंतु जो नौकरी न मिलने के कारण लाचार रहेगा, वह ऊँचे पद पर बैठेगा, तो भी कुछ नहीं कर सकेगा। सरकारी व्यवस्था

उसे हजम कर लेगी, वह उस व्यवस्था को नहीं बदल सकेगा। जो सिपाही अपना काम ठीक तरह से नहीं निबाह सकता, उसे यदि लाकर शिवाजी की गद्दी पर बैठा दें, तो वह शिवाजी नहीं बन सकता।

नया ढाँचा आवश्यक

आज तालीम का ऊपरी ढाँचा तो पुराना ही है। असली बुनियादी तालीम की बुनियाद पर ही ऊपर का ढाँचा खड़ा होना चाहिए, किंतु आज वैसी बात नहीं है। इसलिए मैं कहता हूँ कि निर्णायक पद या Key Position तो सरकार नहीं, मतदाता है। इसलिए आज के शिक्षक लोग जनता में जाकर मतदाताओं का विचार बदलेंगे, तो उनके हाथ में निर्णायक शक्ति आ जायगी। फिर 'कुल सरकार कैसी बनानी है' यह बात भी उनके हाथ में होगी। इस तरह ये शिक्षक लोग खुद सरकार नहीं बनेंगे, बल्कि सरकार बनानेवाले होंगे। वे नौकरी नहीं करेंगे, बल्कि नौकरी करनवालों पर नियंत्रण रखेंगे। यह शक्ति नयी तालीम के शिक्षकों में तब आयेगी, जब मूल्य-परिवर्तन अमल में आयेगा।

आज के शिक्षक

हमारी भूदान-यात्रा के दरमियान हम जहाँ-जहाँ बेसिक-स्कूल हैं, वहाँ जाकर वहाँ का काम देख लिया करते हैं। वहाँ मैं शिक्षकों से सवाल पूछता हूँ कि "आपके लड़के कहाँ पढ़ते हैं?" तो वे जवाब देते हैं: "गया या पटना जैसे शहर में।" जहाँ बाप, गुरु और अच्छी पद्धति—तीनों एकत्र हैं, वहाँ लड़कों को

अपने पास रखकर तालीम क्यों नहीं देते ? जाहिर है कि उन्हें नयी तालीम पर विश्वास नहीं है।

बेसिक स्कूल में खादी पैदा होती है, पर वहाँ के लड़कों के बदन पर खादी दिखाई नहीं देती। यानी वहाँ जो पैदा होता है, वह पहना नहीं जाता। यह तो हॉटेल जैसी बात हुई, जहाँ पर दूसरों को खिलाने के लिए रसोई बनती है।

बुनियादी तालीम के शिक्षक की पत्नी अपने बच्चों को लेकर शहर में रहती है। माँ बच्चों को इतना तो जरूर सिखाती है कि "बेटा, तू दुनिया में और चाहे जो करना, पर अपने बाप जैसा बेवकूफ मत बनना।"

फिर मैं शिक्षकों से पूछता हूँ कि "यहाँ पर कुछ उद्योग का भी काम होता है। मान लो कि आप तीन घंटा मजदूरी करेंगे और तीन घंटा पढ़ायेंगे, तो आप तीन घंटों में जितनी मजदूरी कमायेंगे, उतना ही हम आपको अध्यापन के तीन घंटों के लिए देंगे। क्या यह आपको मंजूर है ?" तो वे कहते हैं : "नहीं" इसका मतलब यह है कि उन उद्योगों पर वे निर्भर नहीं रह सकते। हमें कताई, बुनाई आदि उद्योगों का स्तर ऊपर उठाना है। उसके लिए हमें अपना जीवन-स्तर नीचे लाना पड़ेगा। किंतु हम आज उसके लिए तैयार नहीं हैं। तो फिर लड़कों से क्यों कहते हैं कि उद्योग करो ?

फिर मैं पूछता हूँ कि "आज आपको सरकार समान वेतन नहीं देती, तो भी आप समान वेतन क्यों नहीं कर लेते हो ? परिवार में तो ऐसा ही होता है।" लेकिन इस बात को भी वे कबूल नहीं करते।

इसका मतलब क्या है ? नयी तालीम का एक भी मूल्य आज नयी तालीम की शालाओं में दीखता नहीं है, तो फिर उसका और क्या नतीजा होगा ?

आजकल तो यहाँ तक होता है कि सिर से लेकर पैर तक मिल के कपड़े पहने हुए और घरों में विदेशी माल का प्रयोग करनेवाले लोग नयी तालीम के सम्मेलन में कार्यकर्ताओं को उपदेश देने की हिम्मत करते हैं। मैं कोई व्यक्तिगत टीका नहीं कर रहा हूँ, पर पूछना चाहता हूँ कि "आपको यदि नयी तालीम का विचार मान्य है, तो फिर बच्चों की बनायी हुई खादी क्यों नहीं पहनते ?" आज नयी तालीम के ऐसे अधूरे और लंगड़े प्रयोग से नयी तालीम यशस्वी नहीं होगी।

मेरी शाला कैसी होगी ?

मैं तो दूसरे ही ढंग से काम करूँगा। किसी गाँव में जाकर एक घंटेवाला स्कूल खोलूँगा। लड़के दिनभर खेत में काम करेंगे। स्कूल पर एक पैसे का भी खर्चा नहीं आयेगा। फिर मैं गाँववालों को प्रेरित करूँगा कि गाँव में जरा-सी कपास बोयें। जब गाँव-वाले कपास बोयेंगे, तो फिर मैं उन्हें समझाऊँगा कि बाँस का चरखा बनाओ। फिर वह चरखा किस तरह बनाया जा सकता है, यह सिखाऊँगा। इस तरह गाँव में चरखे का प्रवेश हो गया, तो वे ही चरखे स्कूल के लड़कों के लिए मुफ्त में मिल जायेंगे। इस तरह या तो स्कूल में चरखे का उद्योग इस उम्मीद स दाखिल करो कि इसके जरिये गाँव में परिवर्तन करेंगे या गाँव के उद्योग शुरू करके फिर उन्हें स्कूल में दाखिल करो।

स्कूल में होनेवाली चीजें

स्कूल में जो पैदा होता है, उसका वहीं उपयोग कर लेना चाहिए। वहाँ पर जो तरकारी पैदा होती है, उसका उत्पादन की दृष्टि से हिसाब लगाने के बजाय उसे वहाँ के लड़कों और शिक्षकों में बाँट देना चाहिए। इसी तरह वहाँ जो खादी पैदा होगी, वह लड़कों को देनी चाहिए। आपको सिर्फ इतना देखना है कि उत्पादन ठीक होता है या नहीं? स्कूल की पैदा की हुई चीजें वहीं के छात्रों को दे देने से कुछ खर्च बढ़ेगा, लेकिन आरंभ में उसे बढ़ने दो। आखिर सरकार पर तालीम पर कुछ खर्च करने की जिम्मेदारी है या नहीं?

उत्तम पाठांतर

कुछ लोग समझते हैं कि बुनियादी पाठशाला में पढ़ना-लिखना बिलकुल सिखाया ही नहीं जाता। मैं तो अपने छात्रों को शुरू में ही उपनिषद् पढ़ाऊँगा। 'सत्यं वद, धर्मं चर", यह सब सिखाऊँगा। मैंने सुना है कि संस्कृत की पुस्तकों में टेबुल-कुरसी की और बाजार आदि की कहानियाँ होती हैं। यह सर्वथा निरर्थक है, बच्चों को पहले ही दिन से उपनिषद् की कहानियाँ और उत्तम-उत्तम श्लोक कंठ करना सिखाना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि कंठ करना गलत है। लेकिन 'रस्किन' को पाँच साल की उम्र में ही सारी बाइबिल कंठ हो गयी थी और उसीसे उसका सारा जीवन बना है। लेकिन आज स्कूल में कौए और चिड़ियों की कहानियाँ कंठ कराते हैं।

प्रसंग के अनुसार पाठ

बच्चों को प्रसंग के अनुसार पढ़ाना चाहिए। यदि बच्चा आलस्य करे, तो उसे उत्साह का श्लोक सिखाना चाहिए। यदि वह डरता है, तो उसे निडरता का श्लोक सिखाना चाहिए। इस तरह मौके पर सिखाना चाहिए, बेमौके नहीं। मान लीजिये, एक लड़का धीरे-धीरे कातता है, उसकी गति कम है, लेकिन उसका सूत टूटता नहीं और दूसरा जल्दी-जल्दी कातता है, पर उसका सूत बार-बार टूटता है। उस समय लड़के को कछुआ और खरगोश की कहानी सिखानी चाहिए, जिससे उसे अखण्डता का ज्ञान हो जायगा।

प्रत्यक्ष ज्ञान

जो लोग पुस्तकों के जरिये ज्ञान देना आसान समझते हैं, वे गलत समझते हैं। मिसाल लीजिये, बच्चों को गणित सिखाना है। दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। हम तो कहते हैं कि दो और तीन मिलते ही नहीं, दो तो दो ही रहते हैं और तीन तीन ही रहते हैं। किंतु यह कहा जाय कि दो आम और तीन आम मिलकर पाँच आम होते हैं, तो यह बात समझने में बिलकुल आसान है।

प्रत्यक्ष कार्य के जरिये ज्ञान देना बहुत कठिन है, ऐसा लोग कहते हैं, पर आज जिस पद्धति से ज्ञान दिया जा रहा है, वह कितनी कठिन है ? सृष्टि और मनुष्य के बीच परदा खड़ा करके यह ज्ञान दिया जाता है। "अश्व" याने घोड़ा (Horse) बताया जाता है। लेकिन घोड़ा यदि नहीं देखा, तो क्या समझ में आयेगा ? आप

बच्चों को पदार्थ नहीं बताते, सिर्फ पर्याय पद बताते हैं। जो सिर्फ पद ही देखते हैं, उनका ज्ञान भ्रान्तज्ञान होता है।

किताबों द्वारा अठारह-बीस साल सीखकर आप प्रवीण बनते हैं, तो आपको लगता है कि यह तरीका आसान है। किन्तु वह आसान नहीं है। नयी तालीम किताबों का बहिष्कार नहीं करती, बल्कि वह उनका ठीक और समुचित उपयोग करती है। कोई बीमार पड़ता है, तो उसका कारण जानने की हमारी इच्छा रहती है। बीमारी को हम ज्ञान का साधन मानते हैं। इस तरह कोई मरता है, कोई जन्म लेता है, कोई बीमार होता है, कोई अच्छा होता है, तो ये सारे ज्ञान के साधन बन जाते हैं। जिसके लिए चारों ओर ज्ञान-ही-ज्ञान भरा पड़ा है, उसके लिए अज्ञान कहाँ रहेगा? इस तरह रसोई बनाना, तरकारी काटना आदि कामों के द्वारा भी ज्ञान दिया जा सकता है। तरकारी काटने के समय किस तरह बैठना, किस तरह आसन लगाना, इसका ज्ञान दिया जायगा। फिर रसोई बनाते समय चूल्हा कैसा बनाया जाय, जिससे लकड़ी कम जले और धुआँ पैदा न हो, इसका ज्ञान दिया जा सकता है। कितने समय तक खाना, क्या खाना, इसका भी ज्ञान खाते समय दिया जा सकता है। इस तरह हर बात में ज्ञान भरा पड़ा है। लेकिन ज्ञान के जो इतने जरिये थे, वे तो आज के स्कूलों में बंद हैं। परन्तु इस पद्धति के लिए ट्रेनिंग की जरूरत नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब आज के तरीके में बी० ए० होने के बाद बी० टी० की जरूरत पड़ती है, तो फिर इस तरीके में भी ट्रेनिंग की जरूरत है, पर वह खेतों में प्रत्यक्ष उद्योग करते हुए मिल सकती है।

बिना गुरुपत्नी के गुरुकुल कैसा ?

नयी तालीम के ट्रेनिंग केन्द्र में मैंने देखा कि शिक्षकों के साथ उनकी पत्नी नहीं रहती। लेकिन गुरुपत्नी के बिना कैसे चलेगा ? उसे भी ट्रेनिंग देनी चाहिए और उसके बाद पति के साथ काम करना चाहिए। उपनिषद् में एक कहानी है : 'उपकोशल' नाम का लड़का गुरु के घर रहता था। एक दिन उसने खाना नहीं खाया। वह गुरु से डरता था, इसलिए गुरु के पास जाकर कुछ कहने की उसमें हिम्मत नहीं थी। तब गुरुपत्नी ने उससे पूछा कि "तुमने खाना क्यों नहीं खाया ?" तो लड़के ने जवाब दिया : "आदमी को अलग-अलग वासनाएँ रहती हैं। जब उनकी पूर्ति नहीं होती, तब उसे भोजन की इच्छा नहीं होती।" तब उसके बाद गुरुपत्नी ने गुरु से कहा कि "उस लड़के को कुछ ज्ञान की इच्छा है। इसलिए उसे ज्ञान दो।" इस तरह गुरुपत्नी, गुरु के पास पहुँचानेवाला एक वसीला है। इसलिए शिक्षकों के साथ पत्नी का रहना बहुत जरूरी है। मैं तो कहता हूँ कि गुरुपत्नी को भी तनख्वाह दो, वह भी लड़कों को पढ़ायेगी। रसोई के ज़रिये अच्छा ज्ञान दिया जाता है। आज आप शिक्षक को १००) तनख्वाह देते हैं, तो उसके बजाय उसे ८०) दीजिये और उसकी पत्नी को ४०) दीजिये।

आजकल नयी तालीम का विरोध इसलिए हो रहा है कि नयी तालीम के स्कूल गाँव में ही खोले जाते हैं। इससे ग्रामीणों को लगता है कि यह तालीम हमारे लिए 'सरकार की विशेष कृपा' है। मद्रास में राजाजी की शिक्षा-योजना का जो विरोध

हुआ, उसका कारण भी यही था कि वह देहातों के लिए लागू की गयी थी, शहरों के लिए नहीं। उधर तो ब्राह्मण और ब्राह्मणेतरों का झगड़ा चल रहा है। शहर में अक्सर ब्राह्मण लोग रहते हैं, उन्हें भिन्न प्रकार की विद्या प्राप्त होती है। तो वहाँ के ब्राह्मणेतरों ने सहज ही कहा कि "ब्राह्मणों को अच्छी तालीम मिल रही है और हमें इस नयी तालीम के जरिये अपढ़ ही रखा जाता है।"

विषमता दूर करें

अगर हम कहें कि ऊपर से सारी विषमता हट जायगी, तब नयी तालीम सफल होगी, तो नयी तालीम की बुनियाद ही कटेगी। हम तो नयी तालीम से ही विषमता को काटेंगे। सरकार विषमता दूर नहीं कर सकती। समाज में यह जो विषमता है उसका प्रतिबिंब सरकार में दिखाई देता है। तो जब समाज बदलेगा और उसमें समता स्थापित होगी, तब सरकार को भी उसके अनुसार बदलना पड़ेगा। मैं चाहता हूं कि आपके शिक्षा-विभाग के लोगों के हाथों में क्रांति का झंडा हो। हमें शिक्षकों की एक सेना खड़ी करनी है और फिर जैसे सेना के आधार पर सेनापति रक्तहीन बगावत (Coup-de-etat) करते हैं और उसके सामने वहाँ की संसद् की भी कुछ नहीं चलती, उसी तरह हमें भी करना है। लेकिन अहिंसा के तरीके से हमें "Non-Voilent-Coup-de-etat" करना है। यह करने की शक्ति इन शिक्षकों में है। शिक्षा-विभाग अपने शिक्षकों में ऐसा भाव पैदा करे, तो उनके जरिये क्रांति (Coup) हो सकती है। ...

नयी तालीम का जीवन-दर्शन : ३१ :

१९३७ में याने स्वराज्य-प्राप्ति के दस साल पहले, बापू ने नयी तालीम की कल्पना देश के सामने रखी। स्वराज्य के माने परकीय (विदेशी) सत्ता यहाँ से हट जाय, इतना ही बापू नहीं कहते थे, बल्कि एक नया समाज बने, जिसमें शोषण न हो, जिसमें केंद्रित शासन कम-से-कम हो, जिसमें हरएक के विकास के लिए पूरी सहूलियत हो, ऐसी समाज-व्यवस्था को वे "स्वराज्य" नाम देते थे। स्वराज्य याने ऐसा राज्य, जिसमें हरएक को महसूस हो कि यह मेरा राज्य है। इसीको वे "राम-राज्य" भी कहते थ।

नयी और पुरानी तालीम का भेद

नयी तालीम याने नये मूल्यों की स्थापना। पुरानी तालीम चोरी करने को पाप समझती थी। नयी तालीम न सिर्फ चोरी को, बल्कि अधिक संग्रह को भी पाप समझती है। पुरानी तालीम शारीरिक और मानसिक परिश्रमों के मूल्यों में फर्क करती थी। नयी तालीम दोनों का मूल्य समान समझती है। इतना ही नहीं, दोनों का समन्वय करती है, दोनों का 'समवाय' साधती है। पुरानी तालीम 'क्षमता' की इज्जत करती थी। नयी तालीम "क्षमता" को "समता" की दासी समझती है। पुरानी तालीम लक्ष्मी, शक्ति, सरस्वती को स्वतंत्र देवता-रूप में पूजती थी। नयी तालीम मानवता को पूजती है और इन तीनों को उनकी सेवा का साधन समझती है।

सेवा और सत्ता

स्वराज्य का हमारा अर्थ केवल सत्ता बदलना नहीं, बल्कि सत्ता हटाकर उसकी जगह सेवा स्थापित करना था। अब कुछ लोगों ने दोनों में मेल-जोल करने की बात निकाली है। नेता कहते हैं: "सेवा के लिए सत्ता" हमारा ध्येय है। अनुयायी समझते हैं: "सत्ता के लिए सेवा", ऐसा दीखता है। नेताओं की भाषा का अनुयायियों की भाषा में इस तरह तरजुमा होता है। नतीजा यह है कि आज देश के सब राजनीतिक पक्षों में सत्ता का बोलबाला है और सेवा "भारत-सेवक-समाज" को समर्पित है।

नयी तालीम का 'वानरीकरण'

आज नयी तालीम का जो गुण-ग्रहण हुआ और हो रहा है, वह इतना एकांगी है कि उस आधार पर उसका स्वीकार किया जाना खतरे से खाली नहीं है और यह मैं बरसों से देखता आ रहा हूँ। आज नयी तालीम का जो व्यापक प्रयोग हो रहा है, वह बहुत सारा विभिन्न प्रान्तीय सरकारों के द्वारा हो रहा है। परिणाम यह है कि सर्वत्र 'नयी तालीम' का 'वानरीकरण' हो रहा है। नयी तालीम के पीछे एक जीवन-दर्शन है। उसे ग्रहण किये बगैर जब उसका एकांगी आकलन और विकृत अनुकरण होता है, तब उससे नयी तालीम बदनाम होने के सिवा और कोई निष्पत्ति की आशा नहीं कर सकते। और आज यही तो हो रहा है। भिन्न-भिन्न राज्यों में जो नयी तालीम के सरकारी प्रयोग हुए, उन सबमें शायद बिहार के प्रयोग अधिक प्रामाणिक माने जायँगे। लेकिन उनकी भी जो दशा मैंने देखी, उससे भय हो

रहा है कि शायद नयी तालीम के लिए कब्रिस्तान खोदा जा रहा ह!

एकीकरण का बापू का स्वप्न

लेकिन इस विकृति की जिम्मेवारी उन लोगों पर है, जिन्होंने नयी तालीम को सरकार का आश्रित बनने दिया। होना तो यह चाहिए था कि हम नयी तालीम के शुद्ध नमूने जगह-जगह खड़े करते। लेकिन यह इसलिए नहीं हो सका कि हमने अपने बहुत सारे संघ अलग-अलग चलाये। गांधीजी के ध्यान में यह बात आयी थी और सब संघों को एक करने का उनका विचार भी था। लेकिन उनके भक्तजनों को वह विचार अभी तक पूरा ग्रहण नहीं हो सका है। अब, जब कि चरखा-संघ ने सर्व-सेवा-संघ में विलीन होने की हिम्मत दिखायी, तब इसके लिए राह खुल गयी है। अगर नयी तालीम को अपना तेजस्वी और परिशुद्ध रूप दिखाना है, तो तालीमी-संघ और सर्व-सेवा संघ को एकरूप होना पड़ेगा। यह जब तक नहीं होता, तब तक सर्व-सेवा-संघ और तालीमी-संघ, दोनों निर्जीव रहेंगे। धड़ और सिर अलग करने से जो दशा शरीर की होती है, वैसी ही दशा होगी।

चिंतनीय प्रश्न

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद नयी तालीम का एकांगी गुण-ग्रहण ही क्यों न हो, करने की बात नताओं को सूझी है, छह साल बीतने पर। इसका मुझे जितना आश्चर्य है, उससे कहीं अधिक आश्चर्य इस बात का है कि समग्रता की निरंतर चर्चा करते

रहने पर भी हम लोगों को समग्रता सूझ नहीं रही है। सर्वोदयवाले कांग्रेस के पदाधिकारी बन सकते हैं, असेंबली के सदस्य बन सकते हैं, राज्यों के मंत्री बन सकते हैं, विरोधी राजनैतिक पक्ष भी संघटित कर सकते हैं, लेकिन अपनी एकता नहीं बना सकते ! यह घटना चिंतनीय है।

एकरूपता आवश्यक

सरकारी अफसरों के जरिये अभी तक जो प्रयोग किये गये हैं, उनके दो प्रकार हैं : एक प्रकार तो जान-बूझकर बुनियादी तालीम को बदनाम करने के उद्देश्य से रहा, ताकि वह खर्चीली साबित हो, ज्ञान की कमी उसमें दीखे, पालकों की नाराजी प्राप्त की जा सके, विद्यार्थी भी असंतुष्ट हो जाय। स्पष्ट है कि यह एक अच्छी वस्तु का अप्रामाणिक व्यवहार है। इसका विचार हम छोड़ दें। दूसरा प्रकार है, प्रामाणिक। लेकिन उसमें नये मूल्यों को स्वीकार न करते हुए पुराने मूल्यों को कायम रखकर नयी तालीम को उसके कुछ गुणों के लिए स्वीकार करने की बात है। यह प्रकार प्रामाणिक है, फिर भी नयी तालीम का असली रूप उसमें नहीं दीखेगा। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि नये मूल्यों की बुनियाद पर जितने परिशुद्ध प्रयोग किये जा सकते हैं, किये जायँ। इसके लिए ऐसी तरकीब निकालनी होगी, जिससे नयी तालीम, सर्व-सेवा-संघ और भू-दान-यज्ञ---तीनों की एकरूपता सध जाय।

सरकार-निरपेक्ष प्रयोग

जब देश गुलाम था, तो राष्ट्रीय शिक्षण का विचार निकला और स्वतंत्र विद्यापीठ भी खुले। अब लोग सोचते हैं कि जब स्वराज्य आ गया, तो सारे सरकारी विद्यापीठ राष्ट्रीय विद्यापीठ बन गये। लेकिन 'हो गये' कहने से तो नहीं हो जाते। उन्हें राष्ट्रीय बनाना पड़ेगा। मैं आशा करता हूँ कि वैसे बनाये जायँगे, फिर भी सरकार से पृथक् शिक्षण के स्वतंत्र प्रयोग करने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। गाँव-गाँव में वहाँ की परिस्थिति के अनुसार लोगों की तरफ से अपनी-अपनी अलग शालाएँ चलनी चाहिए। नहीं तो, अगर देश की सारी शिक्षा सरकारी तंत्र में आ गयी, तो बच्चों के दिमाग विशिष्ट साँचे में ढाले जाने का खतरा बना रहेगा। इस दृष्टि से भी नयी तालीम के सरकार-निरपेक्ष प्रयोग चलने चाहिए, यह हमारे लिए सोचने का विषय है।

—'सर्वोदय', दिसम्बर १९५३

नयी तालीम की जिम्मेदारी : ३२ :

नयी तालीम के सामने आज बहुत बड़ी समस्याएँ उपस्थित हैं। 'भूदान-यज्ञ-मूलक, ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रांति' का जो विशाल और गहरा कार्य भगवान् ने हम लोगों के जरिये करवाना चाहा है, उसके कारण हमारे कुल रचनात्मक कार्य के, अर्थात् नयी तालीम के भी स्वरूप में फर्क पड़ जाता है। अगर नयी तालीम अपने को उसके अनुकूल नहीं बना सकी, तो

वह 'नयी तालीम' नहीं रहेगी, पुरानी हो जायगी। इसलिए नयी तालीम को अब नित्य-नयी तालीम बनाना होगा।

पाँच करोड़ एकड़ जमीन की प्राप्ति, उसका बँटवारा और उसके बाद का रचनात्मक काम, नयी तालीम की मदद के बिना सिद्ध नहीं हो सकेगा और उस कार्य को सिद्ध किये बिना नयी तालीम टिक न सकेगी।

भूमि-प्राप्ति के लिए विचारवान्, विनयशील, कार्यदक्ष, निष्ठावान् सेवकों की जरूरत है। ऐसे सेवकों का निर्माण कौन करेगा? बँटवारे के काम के लिए विशिष्ट शिक्षण की जरूरत होगी, यह शिक्षण कौन देगा? जीवन-दानी सेवकों को और उनके परिवारों को समग्र जीवन की शिक्षा कहाँ से मिलेगी? पूरे-के-पूरे गाँव दान में मिल रहे हैं और आगे भी मिलेंगे, उन गाँवों को सर्वोदय की दीक्षा कौन देगा? सर्वोदय का विचार ठीक ढंग से हर देहात और हर घर में पहुँचाने की जिम्मेवारी कौन उठायेगा? इन सब प्रश्नों के उत्तर में नयी तालीम अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है।

इन दिनों सरकार भी नयी तालीम के बारे में गंभीरता से सोच रही है। उसे उचित मार्गदर्शन कराने की जिम्मेवारी हमें उठानी होगी और इस बात के लिए भी हमें देश को तैयार करना होगा कि सर्वोदय-समाज के शासनमुक्ति के ध्येय के अनुसार देश का शिक्षण भी अधिक-से-अधिक शासनमुक्त रहे। शासनसत्ता के रहते भी शासनमुक्ति शिक्षण का स्वयंसिद्ध अधिकार माना जाना चाहिए।

सम्मेलन के लिए आना मेरे लिए मुमकिन नहीं है, यह तो

हमारे सब लोग जानते हैं। पर नयी तालीम के सेवकों में मैं अपनी गिनती करता हूँ और मेरा दावा है कि मैं सतत नयी तालीम का काम करता आया हूँ और आज तो मैं वह विशेष तीव्र रूप से कर रहा हूँ।

मैं सम्मेलन का सुयश चाहता और आशा करता हूँ कि वह सब सेवकों को प्रेरणादायी होगा।

—नवम्बर १९५४ में सणोसरा में होनेवाले
नयी तालीम-सम्मेलन को भेजा गया संदेश

नयी तालीम और जन-संपर्क : ३३ :

(जगन्नाथ पुरी-सम्मेलन में तालीमी-संघ की बैठक में
किया गया भाषण)

बलरामपुर में नयी तालीम का एक केन्द्र है। वहाँ कस्तूरबा का भी केन्द्र है। बंगाल की पद-यात्रा में वहाँ हमें दो दिन ठहरने का मौका मिला था। वहाँ हम एक पासवाले गाँव में घूमने गये। सुबह ५ बजे का समय था। गाँव की बहुत सारी बहनें दीपक लेकर स्वागत करने आयी थीं।

जन-सम्पर्क का अभाव

हमने उस गाँववालों से दरयाफ्त किया, तो पता चला कि भूदान के विषय में उन्हें कुछ भी मालूम है नहीं। जब हमने पूछा कि 'यहाँ बेजमीनवाले कितने लोग हैं?' तो जवाब मिला: 'बहुत सारे बेजमीन हैं और जो जमीनवाले हैं, वे ज्यादातर

बाहर रहते हैं।' जब हमने पूछा कि 'उन मालिकों के पास कभी कोई जमीन माँगने गया था?' तो उत्तर मिला: 'नहीं।' तो मेरे मन में विचार आया कि जहाँ हमारी दो-दो संस्थाएँ काम कर रही हैं, उसके बिलकुल नजदीक के गाँव में इतना घना अन्धकार क्यों है? गाँव में कुछ भी काम नहीं हुआ है, तो गाँव-वालों से क्या कहा जाय? दोनों संस्थाओं के व्यक्ति वहाँ मौजूद थे। मैंने कहा: हमारी संस्थाएँ इस तरह अपनी ही संस्था के काम में कैद रहती हैं और आसपास की जनता के पास तक नहीं पहुँचतीं, तो उनका मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इसलिए संस्था के संचालन में क्या कमी है, इसका संशोधन होना चाहिए।

बहुत वर्षों के निरीक्षण के बाद मुझे ऐसा दीखता है कि जहाँ १००-१५० कार्यकर्ता एक स्थान पर रहते हैं, वहाँ इतने काम खड़े हो जाते हैं कि उनके अलावा और कोई दूसरा काम करने के लिए समय ही नहीं बचता। इसके सिवा इतना बड़ा समाज अर्थ-निरपेक्ष भी नहीं रहता। उसका आधार पैसा होता है। अगर वह आधार हम तोड़ते हैं, तो फिर उस मंडली का आस-पास के लोगों के साथ संपर्क रखना जरूरी हो जाता है और फिर उससे मिथ्या-योग का आचरण नहीं होता।

जिस योग का आधार पैसे पर है, उसे मैंने 'मिथ्या-योग' नाम दिया है। वह न ध्यान-योग है, न कर्म-योग और न ज्ञान-योग ही। ऐसे स्थान पर जितना हम करते हैं, वह केवल दिखावटी-सा होता है, हृदय को स्पर्श नहीं करता। वह नाटक जैसा हो जाता है। नाटक देखकर हम पर जो असर पड़ता है, उसका भी

वैसा ही हाल होता है। योगयुक्त जीवन का जो असर होना चाहिए, वह इस प्रकार के नाटक का नहीं होता। इसलिए हम लोग सोचें कि हमने जहाँ संस्थाएँ बनायी हैं, वहाँ १५-२० से ज्यादा संख्या में लोग एकत्र न हों। पर पैसे का आधार छोड़कर यदि ज्यादा संख्या में लोग एकत्र रहें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। उल्टे मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसा समाज तो निश्चय ही क्रान्ति उत्पन्न कर सकता है।

नयी तालीम का लक्ष्य

बड़े समाज में मुझे एक दोष और भी दिखाई देता है। बड़ा समाज रखने से बड़ा इन्तजाम भी करना पड़ता है और फिर वह भी अच्छे ढंग का होना चाहिए। ऐसी उत्तम व्यवस्था का लाभ हमारी नयी तालीम के बच्चों को भी मिलता है। पर ऐसी उत्तम व्यवस्था में तालीम पाने के बाद जब ये विद्यार्थी बाहर की दुनिया में प्रवेश करते हैं, तो इनकी स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है। संस्था की तरह तो बाहर उत्तम व्यवस्था होती नहीं। तब ये लड़के चकरा उठते हैं। इसलिए नयी तालीम के विद्यालय की व्यवस्था हमें योजना बनाकर ऐसी करनी चाहिए कि लड़के हर मुसीबत का डटकर सामना कर सकें और उनमें से उनका जीवन बने।

हम लोगों ने अभी तक नयी तालीम की पाठशाला के जो प्रयोग किये, उन्हें देखकर हमें ऐसा लगता है कि हमारा काम करने का तरीका अच्छा है, किन्तु इसमें उत्तम परिस्थिति का जितना विचार हमें करना चाहिए, उतना हम नहीं करते।

जैसे कोई 'राजकुमार-कॉलेज' चलता है, वैसे ही हमारी शाला भी चलती है। माना, राजकुमार-कॉलेज के जैसा हमारा काम भोग-विलासी नहीं होता, इसलिए यहाँ उसकी मिसाल ठीक-ठीक लागू नहीं होती। किन्तु इतनी बात तो दोनों में समान है ही कि आसपास के लोगों के साथ किसीका सम्पर्क नहीं रहता। इसलिए हमारी व्यवस्था में लचीलापन आवश्यक है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर, भिन्न-भिन्न तरह से अनेक प्रयोग चलें, यह जरूरी है। हमने एक घण्टेवाली स्कूल की जो बात चलायी है, उसका भी अनुभव करना चाहिए।

गाँवों में तालीम चालू है

कुछ लोग कहते हैं कि नयी तालीम के स्कूल का खर्च इतना ज्यादा होता ह कि वह करीब-करीब प्रतिबन्धक ढंग का हो जाता है। आज की सरकार की हालत ऐसी है कि वह ऐसा खर्चीला शिक्षण चला नहीं सकती। जो लोग नयी तालीम का स्कूल पसन्द नहीं करते, वे ही ऐसी टीका किया करते हैं। वस्तुतः नयी तालीम महँगी नहीं है। इतना ही नहीं, वह पैसे से मुक्ति पाने की भी चेष्टा में लगी है। अभी तक वह काम पूर्ण नहीं हुआ, इसलिए अभी कुछ खर्च होता है।

मैंने अपने लेख में एक सुझाव दिया था कि हर गाँव स्वावलंबी है। वहाँ सभी लोग अपना-अपना उद्योग कर रहे हैं। गाँवों में कुछ-न-कुछ उत्पादन होता ही है। घर-घर में भोजन चलता ही है। गाँव का एक सम्पूर्ण जीवन चालू है। गांव को बाहर से कुछ मदद नहीं पहुँचायी जाती। वहाँ का जीवन ही ऐसा है कि वहाँ

पुरुषार्थ करना ही पड़ता है। नयी तालीम के लिए ऐसा क्षेत्र बहुत अच्छा है। देहात का जीवन पराश्रित या कृत्रिम नहीं है। पेट में भूख है, इसलिए काम करना पड़ता है और बुद्धि है, इसलिए युक्ति सूझती है। गाँव के लोग तो अपने आचरण द्वारा नयी तालीम चला ही रहे हैं। उन्हें सुसंस्कारों की थोड़ी-सी पुटमात्र देनी है। उसके अलावा शिक्षा का हमारा जो अहंकार है, उसे हम छोड़ दें और गाँव में चले जायँ। हम नहीं सिखायेंगे, तो लोग अशिक्षित नहीं रहेंगे।

गाँव-गाँव में उद्योग चल रहे हैं। नयी तालीम के शिक्षक भी विद्यार्थियों के साथ उनमें शामिल हों और उनके द्वारा लोगों को भी सिखायें।

कौड़ी का भी खर्च नहीं

गाँव में जो उद्योग चलता है, उससे असम्बद्ध ज्ञान उन्हें न दें, सम्बद्ध ज्ञान ही दें, तो बात खतम हुई। गाँवों में चरखा नहीं चलता है, तो शिक्षकों पर यह जिम्मेवारी क्यों होनी चाहिए कि चरखा गाँव पर लादें और उस चरखे को तालीम का माध्यम बनायें ? मैं किसी गाँव में जाऊँ, तो मुझे एक कौड़ी की भी जरूरत नहीं पड़ेगी। मैं लोगों से कहूँगा कि मेरे पास ज्ञान है और आपके पास अज्ञान। बस, मेरा काम बन गया। अगर आपके पास अज्ञान नहीं होता, तो भी बात नहीं बनती और मेरे पास ज्ञान नहीं होता, तो भी बात नहीं बनती। इसलिए आपके पास अज्ञान है और मेरे पास ज्ञान, तो अब बात बनेगी। वे खेती करते होंगे, तो मैं खेती करूँगा। वे गाय की सेवा करते होंगे, तो मैं गाय की

सेवा करूँगा। मैं गोसेवा के साथ-साथ उन्हें उपनिषद् भी सिखाऊँगा। नयी तालीम के लिए पुस्तकें अनिवार्य नहीं। मिलीं, तो ठीक, नहीं मिलीं, तो भी ठीक। आपके स्कूलों में कम-से-कम ब्लॅकबोर्ड (श्यामपट्ट) चाहिए, खड़िया चाहिए, किताब चाहिए। लेकिन नयी तालीम में कुछ भी नहीं चाहिए। भगवान् ने मुझे मुँह दिया है, लोगों को सुनने के लिए कान दिये हैं और दोनों को बैठने की जगह दी है, तो स्कूल के लिए और क्या चाहिए? सिर्फ अच्छे शिक्षक चाहिए, तो वे ग्राम-जीवन के साथ सम्बन्ध रखकर तालीम देंगे।

सबको समान वेतन

'बेसिक तालीम चलानी है' ऐसा सरकार ने तय किया है। कांग्रेस ने तय किया है, तो सरकार ने ही तय किया है। तो अब वह तालीम चलेगी, पर उसके लिए मूल उद्योग का जरिया आदि एक प्रकार का तन्त्र है। वह काफी है या उसके लिए कोई मन्त्र भी चाहिए? अगर वह मन्त्र नहीं है और सिर्फ बाहर का तन्त्र ही रहा, तो केवल तन्त्र से क्या होगा? मन्त्र यह है कि नयी तालीम शरीर-परिश्रमनिष्ठ और साम्ययोगी होती है। अब वहाँ यह नहीं चलेगा कि शिक्षकों की योग्यता में फर्क है, इसलिए तनख्वाहों में भी फर्क हो। किसीको चालीस रुपये मिलें, किसीको अस्सी, तो किसीको सौ। ऐसी जो विभिन्न श्रेणियाँ बनायी जाती हैं, शिक्षण-विभाग में दर्जे का ऐसा जो इन्तजाम हो, वह यहाँ चलनेवाला नहीं। नयी तालीम में यह जरूरी है कि सब शिक्षकों को समान वेतन मिले। इसमें मैं पैसा

बचाने की बात नहीं कर रहा हूँ। हो सकता है कि सबको समान वेतन देने के लिए अधिक भी खर्च करना पड़े। मैं कोई आर्थिक कटौती की योजना नहीं बना रहा हूँ, वरन् साम्ययोग की योजना बना रहा हूँ। उसके बिना नयी तालीम आगे नहीं बढ़ेगी।

नयी तालीम में हम शारीरिक और बौद्धिक कामों के मूल्यों में कोई अन्तर नहीं मानते। हम मानते हैं कि नेतृत्व, व्यवस्था आदि में भी वेतन का अन्तर नहीं होना चाहिए। शिक्षक, मिनिस्टर आदि जो नेता हैं, उन सबके वेतन में साम्य होना चाहिए। नहीं तो, विद्यार्थियों के मन में नयी तालीम के प्रति श्रद्धा और भक्ति कैसे पैदा होगी? सच पूछिये तो 'वेतन' शब्द ही गलत है, उसके लिए तो 'दक्षिणा' कहना ही ठीक होगा।

सबसे बड़ा पाप 'असत्य'

हमारे समाज के जो नैतिक मूल्य हैं, उनमें हमें परिवर्तन करना होगा। समाज में यह कल्पना दृढ़ होनी चाहिए कि सब दुर्गुणों में सबसे अधिक हेय दुर्गुण कोई है, तो वह है 'असत्य'। बाकी सारे दुर्गुण तो दोष हैं या बीमारियाँ हैं। भारतीय संस्कृत में स्वर्ण की चोरी को महापातक कहा गया है। इसी तरह 'मदिरा-पान' और 'ब्राह्मण-हत्या' को भी महापातक माना गया है। परन्तु इनसे भी बड़ा पाप है, असत्य। कारण असत्य से ही मनुष्य में दोष छिपाने की प्रवृत्ति पैदा होती है। किसीने इतना ज्यादा खा लिया कि अजीर्ण हो गया और उसके फलस्वरूप वह मर गया, तो उस मनुष्य के प्रति घृणा

नहीं, दया पैदा होती है। इसी तरह जो दूसरे नैतिक दोष हैं, वे घृणास्पद नहीं, दयास्पद हैं, ऐसा यदि समाज मान ले, तो छिपाने की वृत्ति समाज से जाती रहेगी। पर यह छिपाने की वृत्ति मिटेगी कैसे ? इसके लिए समाज में ऐसी धारणा बननी चाहिए कि असत्य ही सबसे बड़ा दुर्गुण है। . . .

परिश्रमालय द्वारा शिक्षण : ३४ :

नयी तालीम में हमने एकाध जीवनोपयोगी दस्तकारी को मुख्य स्थान दिया है और उससे शिक्षा का लाभ हम उठाना चाहते हैं। मैंने बहुत जगह अभी इसके प्रयोग देखे हैं। मुझे कहना होगा कि मुझे उससे विशेष समाधान नहीं हो पाया। इसमें प्रयोग करनेवालों का उतना दोष नहीं मान सकते। आखिर जो हो, है तो नयी चीज ही। जिसे जैसा सूझता है, करता है। कहीं कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति काम करता है, तो उसे विशेष सूझता है। वह संशोधन कर लेता है। नवविचार की प्रगति ऐसी ही होती है।

शिक्षा का नया ढंग

बिल्कुल छोटे बच्चों की तालीम की बात मैं छोड़ देता हूँ। बढ़ी हुई उम्र के लड़कों को तालीम देने का एक दूसरा ही तरीका मेरे मन में आ रहा है। मैं ऐसों को 'तालीम देने' का नाम न लेकर उन्हें रोजी दिलाने का ही काम क्यों न करूँ ? ऐसे लड़के जिस रोज से मेरे पास आयेंगे, उसी रोज से मैं उन्हें मजदूरी देना

शुरू कर दूँगा। मेरा दावा यही रहेगा कि मैं बेकारों को काम दूँ। लेकिन काम में से एकाध घण्टा निकालकर उनके जीवन और इर्द-गिर्द की हालत के बारे में जो कुछ सूझेगा, मैं उन्हें बताता रहूँगा। उनके काम की प्रगति कैसे हो, इसकी फिक्र करूँगा। उनके आरोग्य की तरफ ध्यान दूँगा। कहा तो यही जायगा कि 'मैंने एक कारखाना खोला', लेकिन शायद इस ढंग से नयी तालीम का मैं बेहतर प्रचार कर सकूँगा, बनिस्बत उसके, जो आज चल रहा है।

परिश्रमालय में नयी तालीम

यह मैं कल्पना से नहीं कह रहा हूँ। पवनार में मैंने जो काम किया, उसमें १४-१५ साल से लेकर १८ साल तक के लड़के ८ घण्टे काम करके रोजी कमाते थे। कताई का मानो कारखाना ही वहाँ चलता था। मैं उन लोगों में १-२ घण्टे जाकर बैठता था। पहले मैं यही सोचता था कि उनकी रोजी कैसे बढ़े। लड़के दाय हाथ से कातते थे। तीन माह तक बायें हाथ का प्रयोग चलाया। फिर दोनों हाथ अदल-बदलकर काम किया गया।

उनकी सूत की गुंडियाँ समान अंक की नहीं होती थीं, कुछ मोटी, तो कुछ महीन होती थीं। कार्यालय के लोग मजदूरी देते समय मोटी-से-मोटी गुंडी का नंबर देखते थे और उसके नम्बर को सारे सूत का नम्बर मानकर दाम आँकते थे। इससे उनका कितनी गुंडियों का नुकसान होता था, इसका गणित सिखाया। तार गिनने में ६४० तार की गुंडी में उनके ४०-५० तार कम आते थे। ठीक से गिनना उन्हें सिखाया। उनमें अनिय-

मितता थी। कातते हुए बीच में गप्प मारने की आदत थी। इससे उनकी कार्यशक्ति का कैसे क्षय होता है, इसका सप्रयोग दर्शन करवाया। कुछ देर मौन रहकर काम करने की प्रेरणा दी, तो काम बढ़ा, मजदूरी बढ़ी। फिर ८ घण्टे के बजाय ७ घण्टे काम लेकर १ घण्टा दूसरी चर्चा में बीतने लगा। इसके बाद नदी में तैरने, खेलने, घूमने, गीता के श्लोक कंठ करने तथा त्योहारों आदि की छुट्टियों के निमित्त तत्संबंधी ज्ञान देने का कार्यक्रम चला। इस तरह वे मजदूरी ज्यादा कमाने लगे और कई तरह का शिक्षण पाने लगे। पहले वे लड़के थे, अब जिम्मेदार नागरिक बन गये हैं। सूत कातकर अपना कपड़ा बना लेते हैं। ग्राम-पंचायत का जिम्मेवारी से काम करते हैं। पवनार के सार्वजनिक काम में हिस्सा लेते हैं। अब ग्राम-सफाई करने की बात सोच रहे हैं। यह सारा उस परिश्रमालय से हुआ। परिश्रमालय ज्यादा दिन नहीं चला, क्योंकि मुझे जेल जाना पड़ा। फिर वह बंद हो गया। अगर वह जारी रहता, तो नयी तालीम का वह एक सफल प्रयोग होता; लेकिन नाम तो परिश्रमालय का ही रहता।

मूलोद्योग का खेल

मैं देखता हूँ कि कितनी ही शालाओं में जहाँ उद्योग दाखिल हुआ है, काम में उतनी सचाई नहीं बरती जाती। कुछ दिखावट होती है और कुछ सजावट। वहाँ कुछ काम के साथ कुछ ज्ञान जोड़ देते हैं, जो खेल जैसा मालूम होता है। उससे क्या वह अधिक अच्छा नहीं है? मजदूरों के काम में गंभीरता होती

है। मजदूर जानते हैं कि हम काम न सीखेंगे, तो गुजारा नहीं होगा। परन्तु शालाओं के वातावरण में एक तरह का मिथ्यात्व दीखता है।

निर्वासित लड़कों की शिक्षा

ये विचार इस समय प्रकट करने का कारण यह है कि अभी सरकार ने निर्वासितों के बच्चों को तालीम देने का काम तालीमी-संघ को सौंपना चाहा है। मुझे लगा कि जहाँ तक बड़े लड़कों का सम्बन्ध है, क्या यह बेहतर नहीं होगा कि हम नाम परिश्रमालय का लें और काम नयी तालीम का करें। उसके लिए सिर्फ इतना ही होना चाहिए कि परिश्रमालय का व्यवस्थापक उत्तम शिक्षा-शास्त्री हो। उसकी आत्मा शिक्षण से भरी हुई हो। वह स्वाभाविक रूप से वहाँ काम करेगा और कारखाने को उत्तम शिक्षण-शाला का रूप देगा।

—'सर्वोदय', सितंबर १९४९

एक घंटे की पाठशाला : ३५ :

इन दिनों अपने भाषणों में मैं "एक घण्टे" के स्कूल की कल्पना कई बार रखता आ रहा हूँ। गाँव-गाँव में सरकारी नहीं, ग्रामीण स्कूल चले और रोज सिर्फ एक ही घण्टा, सुबह के समय चले। नयी तालीम याने एक घण्टे की पाठशाला, ऐसा मेरा समीकरण करीब-करीब बन गया है। अब तक मुझे यह आशा नहीं थी कि ऐसी विचित्र कल्पना को लोग स्वीकार

करेंगे। पर आश्चर्य है कि लोग उसे मंजूर करते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें यह कल्पना काफी हृदयग्राही लगी है। अब वह लोगों के गले उतर रही है। यह हुई हमारी सबेरे की मौलिक पाठशाला।

इस प्रकार एक घण्टे का महाविद्यालय होगा। वह रात को चलेगा। पंद्रह वर्ष से कम आयु के बच्चे सुबह के स्कूल में जायेंगे। पन्द्रह वर्ष समाप्त होकर जिसे सोलहवाँ लगा, वह महाविद्यालय में जाने का अधिकारी होगा, फिर वह पाठशाला में पढ़ा हो या न हो। पाठशाला में चलेगा: लेखन, वाचन, गणित आदि और महाविद्यालय में चलेगा: श्रवण, कीर्तन, भजन आदि।

लड़के-लड़कियाँ दिनभर माता-पिता के काम में सहायता करेंगी। गुरुजी भी अपना काम करने के लिए मुक्त रहेंगे। गुरुजी को वेतन नहीं मिलेगा। साल के अन्त में प्रत्येक किसान की ओर से उन्हें दो-चार सेर अनाज मिलेगा।

पाठशाला में या महाविद्यालय में जो कुछ पढ़ा और कहा जायगा, उसका सम्बन्ध गाँव के उद्योग-धंधों से जुड़ा होगा। रसोई, घर-काम, सफाई, उत्सव-समारंभ, खेल, जन्म, मरण, बीमारी आदि की भी गिनती उद्योगों में मान ली जायगी।

गाँव के चालू उद्योगों का विकास और नये उद्योग दाखिल करने की जिम्मेदारी ग्राम-पंचों की होगी। ग्राम-पंचों में शिक्षक भी रहेगा। पंचायत द्वारा नमूने के तौर पर खेत, परिश्रमालय आदि चलाये जायँ, तो लड़के और शिक्षक उनमें जा सकेंगे, लेकिन तीन घंटे से अधिक नहीं। उनमें बच्चों और शिक्षकों

को मजदूरी मिले। वह पैसों में नहीं, वस्तुओं में मिले। ग्राम-पंचों को जो उद्योग नहीं चाहिए, उनके बारे में खटराग करने की जिम्मेदारी स्कूल की नहीं रहेगी। लेकिन वैसी जरूरत महसूस कराने का काम महाविद्यालय का रहेगा। प्रस्तुत आवश्यकता महसूस होने पर पंचायत उस बारे में कोशिश करेगी और फिर स्कूल में उसका प्रवेश हो सकेगा। शिक्षण के लिए पैसे की जरूरत नहीं है, पैसे से मुक्त होने की जरूरत है।

—'सर्वोदय', दिसम्बर १९५४

भारतीय शिक्षण-शास्त्र : ३६ :

लोक-शिक्षण के विषय में मूल को छोड़कर शाखाओं के पीछे हमें नहीं पड़ना चाहिए। प्रौढ़ शिक्षण के पूरे काम में कितना खर्च आयेगा, उसमें क्या-क्या मुश्किलें हैं आदि बातें एक सरकारी रिपोर्ट में प्रकट की गयी हैं, जिन्हें पढ़कर मेरे वे विचार और भी दृढ़ हो जाते हैं। प्रौढ़ शिक्षण को नाम तो वैसे लोक-शिक्षण का दिया जाता है, क्योंकि सुन्दर नामों के बिना हमारा समाधान नहीं होता। लेकिन हम मन में ऐसा मानते हैं कि उस नाम से काम तो मुख्यतः साक्षरता-प्रचार का ही होता है।

तोता-रटंत

साक्षरता-प्रचार की बात जब सोचता हूँ, तो बचपन का एक संस्मरण मुझे हमेशा याद आता है। ब्राह्मण-कुटुंब की रीति

के अनुसार मुझे बचपन में वैदिक संध्या सिखायी गयी थी और हफ्ते के भीतर ही मुझे वह कंठ भी हो गयी। मेरी माँ इस बात की प्रशंसा बहुत दफा लोगों के सामने किया करती थी। मैंने दो-चार दफा तो सुन लिया। शायद मन को वह प्रिय भी लगी होगी। लेकिन एक दिन मैंने माँ से कहा : "माँ, मेरे संध्या-स्मरण का चमत्कार तू सबसे कहा करती है। पर उसीके साथ एक दूसरा भी चमत्कार है, वह तू कहाँ जानती है ?" उसने पूछा : "दूसरा क्या चमत्कार है ?" मैंने जवाब दिया : "विन्या हफ्ते के भीतर ही संध्या सीख तो गया, लेकिन उससे भी कम दिनों के भीतर वह उसे भूल भी गया !" 'वर्डस्वर्थ' ने कहा था : "कमाते और खर्चते हम अपनी शक्ति का क्षय किया करते हैं।"

कारगर शिक्षा-साधन

अगर साक्षरता-प्रसार-शक्ति क्षयकारी न साबित हो, ऐसा हम चाहते हैं, तो हमें सार्थकता-प्रसार पर अपना ध्यान एकाग्र करना चाहिए और उसके लिए सक्रिय श्रवण जैसा कारगर और कम खर्चीला दूसरा कोई साधन ही नहीं है।

कल्पना का दारिद्रय

हमारे पूर्वजों ने यह पहचाना भी था। सर्वोत्तम विचार निरंतर सुनने चाहिए, सुनाने चाहिए। नवधा भक्ति के प्राथमिक तीन साधन हैं : "श्रवण, कीर्तन, स्मरण।" इसके लिए मिट्टी के तेल की भी जरूरत नहीं रहती, जिसकी दिक्कत सरकारी रिपोर्ट में पेश की गयी है। हमारी गरीबी इतनी बढ़ी हुई है,

यह तो हम जानते हैं; लेकिन उसके साथ-साथ हमारा कल्पना-दारिद्रय भी कितना ज्यादा बढ़ा है।

जिन हरि-कथा सुनी नहिं काना, श्रवण-रन्ध्र अहि-भवन समाना।
जो नहिं करहि राम-गुन गाना, जिय सो दादुर-जीह समाना।

अश्वपति का दृष्टांत

श्रुति, स्मृति और कृति, यही है थोड़े में हमारा शिक्षण-शास्त्र। हजारों बरसों के अनुभव से यह स्थिर हुआ है। देश का हरएक नागरिक ज्ञानी होना चाहिए, यह विचार इस देश में नया नहीं है। उपनिषद् में अश्वपति राजा अपने राज्य का गौरव अपने मुँह से गा रहा है। कहता है: "मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कंजूस, न कोई शराबी। न एक भी अविद्वान है, न अकर्मण्य। दुराचारी पुरुष ही नहीं है, तो स्त्री के दुराचारी होने का सवाल ही कहाँ उठता है?"

शिक्षण और शराबबंदी

चोर और कंजूस की बात तो मैं छोड़ देता हूँ। उनका बाजार आजकल कितना गरम है, हर कोई जानता है। अभी मेरी चर्चा का वह विषय भी नहीं है। लेकिन शराबबन्दी के बारे में तो अंग्रेजों ने हमसे कह दिया था कि "अगर शिक्षा चाहते हो, तो शराबबंदी नहीं कर सकते।" अंग्रेजों की तरह तो हम स्पष्ट बोल नहीं सकते, लेकिन दूसरे ढंग से हम भी वही कह रहे हैं। कहते हैं: "शराबबंदी करो, मगर आहिस्ता-आहिस्ता करो, नहीं तो पैसा रुक जायगा।" पैसा रुका, तो सभी

रुका। तो साक्षरता भी रुक गयी, यह कहने की जरूरत ही नहीं।

निरक्षरता बनाम व्यसनमुक्तता

अब देखिये, लोक-शिक्षण के नाम से साक्षरता-प्रचार करते जाना और शराबबंदी की बात न बोलना, यह क्या है? मैं तो कहूँगा: "मेरा देश निरक्षर रहे, तो कोई फिक्र नहीं, लेकिन उसे व्यसन-मुक्त तो फौरन् होना ही चाहिए।"

पढ़े-लिखे लोगों की श्रेणी

अश्वपति ने जब यह गवाही दी कि मेरे राज्य में कोई अविद्वान् नहीं है, तो उसका मतलब क्या था? यही न कि हरएक नागरिक अच्छी तरह से समझ गया है कि चोरी, कंजूसी, शराबखोरी, आलस और दुराचार नहीं करना चाहिए। इसका अक्षरज्ञान से क्या सम्बन्ध है? पढ़े-लिखे लोग तो इन बुराइयों में प्रवीण दीख पड़ते हैं। क्या उन्हींकी श्रेणी में सबको दाखिल करना है?

बुनियादी तालीम

मेरा यह मतलब नहीं कि पढ़ने के कारण ये बुराइयाँ हो रही हैं। लेकिन मुझे दरशाना यही था कि पढ़ने पर हम अत्यधिक जोर न दें। उसके खर्च की फिक्र में न पड़ें। जन-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य और कार्यक्रम ठीक ढंग से सोचें और जो भी अक्षर-संस्कार हम चाहते हैं, बच्चों पर करें। इसके साथ-साथ हम अधिक-से-अधिक ध्यान बच्चों की बुनियादी तालीम पर दें।

—'सर्वोदय', दिसम्बर १९४९

साक्षरता-प्रचार : ३७ :

मैसूर की शिक्षा-परिषद्

आजकल मैसूर में शिक्षा-परिषद् चल रही है । प्रौढ़ों के शिक्षण की क्या व्यवस्था की जाय, यह उस परिषद् की चर्चा का विषय है। अनेक देशों के शिक्षा-शास्त्री वहाँ इकट्ठे हुए हैं। ऐसे विचार-विनिमय से जरूर कुछ लाभ मिलेगा, ऐसी आशा हम कर सकते हैं।

शाखा-विचार छोड़ें

शिक्षा के विषय में जब-जब मैं सोचता हूँ, तो बहुत दफा मुझे ऐसा लगा है कि हमने नाहक उस विषय को जटिल बना दिया है। अगर हम मूल को पकड़ रखते हैं, तो सवाल हल हो जाता है । शाखाओं की बात सोचते हैं, तो शक्ति का क्षय होता है।

शिक्षा के काल्पनिक भेद

शिक्षण का मुख्य हेतु यही है कि सारी जनता को उद्योगशील और विचारशील बनाया जाय। लेकिन इस एक विषय के अनेक पहलू हम बनाते हैं। शहर की शिक्षा, गाँवों की शिक्षा, प्रौढ़ों की शिक्षा, बच्चों की शिक्षा और फिर बच्चों में भी शिशु-शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, स्त्रियों की शिक्षा, पुरुषों की शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा और इन सबके अलावा साक्षरता-प्रचार।

एकहिं साधे सब सधे

अब इतने सारे पहलू बनाकर हम अगर सोचने लगें, तो सोचते ही रहते हैं। ध्यान विभाजित करके, 'थोड़ा खर्च इस पर, थोड़ा खर्च उस पर', इस तरह किसी भी चीज को पूरा संतोष नहीं दे पाते। इसलिए जड़ को पकड़ना और कोशिश ऐसी करनी चाहिए कि एक में सब कुछ सध जाय। मेरे खयाल से वह जड़ है, बुनियादी शिक्षण, जिसे विशेषज्ञों ने सात से चौदह साल तक का माना है। यह अवधि और भी बढ़ा सकते हैं। इधर वह छह साल से शुरू कर उधर पंद्रह साल तक ले जा सकते हैं। यानी पूर्णता लाने के लिए मियाद जितनी बढ़ानी जरूरी हो, बढ़ा सकते हैं। उतने एक काम को सर्वांगसुंदर बनाना चाहिए और वह शिक्षण सारे देश में लाजिमी देना चाहिए। इसमें उद्योग आता है, विचार-विकास आता है और साक्षरता भी आती है। इसमें यह सवाल भी नहीं उठता कि सीखी हुई विद्या टिकी कैसे रहे? क्योंकि वह एक अनुभवयुक्त ज्ञान होता है। इसलिए उसमें भूलने की तो गुंजाइश ही नहीं। बल्कि जैसे एक बीज बोने से असंख्य बीज पैदा होते हैं, वैसे उस विद्या की वृद्धि ही होती रहती है। जिस लड़के ने इस तरह विद्या पायी है, वह आगे जाकर अपना ज्ञान शतगुणित करेगा।

बहुत सारी शाखाओं की बात अलग-अलग सोचते हैं, तो काम कुछ जल्दी कर लेते हैं, ऐसी बात भी नहीं है। अगर बुनियादी शिक्षण हाथ में लेते हैं, तो वही लड़के आगे चलकर प्रौढ़ नागरिक बनते हैं। वे ही अपने-अपने घरों में पूर्व बुनियादी तालीम का

आयोजन कर लेंगे, तो न तो शिशु-शिक्षा की चिंता रहेगी और न प्रौढ़-शिक्षा की।

उद्योग द्वारा प्रौढ़ शिक्षण

आजकल जिस प्रकार प्रौढ़ों में साक्षरता-प्रचार चलता है, उससे कोई खास लाभ नहीं है। प्रौढ़ों का शिक्षण भी उद्योग के जरिये ही होना चाहिए, जिससे बेकारों को उद्योग मिल सके और उनका बौद्धिक विकास भी हो।

मान लीजिये कि दो हजार की आबादी का गाँव है। ऐसे गाँव में आठ या नौ साल का संपूर्ण बुनियादी शिक्षा-क्रम चलाया जाय, तो उसमें लड़के करीब तीन सौ होंगे। उनके लिए हम 'दर्जों के हिसाब से' आठ-दस शिक्षक नियुक्त करेंगे, तो उनके अलावा और भी दो-तीन शिक्षक ज्यादा देंगे। सब मिलकर बुनियादी शिक्षण चलायेंगे। साथ-साथ प्रौढ़ों को भी वे जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान दे सकेंगे। कारण वे खुद अनेक उद्योगों में प्रवीण होंगे। इसलिए किसान को भी वे व्यावहारिक ज्ञान दे सकेंगे। इसके अलावा दुनिया की वर्तमान स्थिति का ज्ञान, भूगोल का ज्ञान, आरोग्य, विज्ञान आदि भी देंगे।

गलत दृष्टि

लेकिन कहा जाता है कि सरकार अभी बुनियादी तालीम पूरी नहीं चला सकती, क्योंकि उसके लिए पर्याप्त पैसे नहीं हैं। मैं कहता हूँ कि 'जितने भी पैसे हैं' इसीमें लगाइये। चार ही साल का बुनियादी स्कूल खोलने से कोई खास निष्पत्ति नहीं होती। पूरा बुनियादी स्कूल चलाने से ज्ञान परिपूर्ण होगा और खर्च भी

निकल आयगा। लेकिन इसमें कंजूसी की जाती है। बुनियादी शिक्षक कम देते हैं और उधर प्रौढ़ शिक्षण के लिए अलग शिक्षक रखते हैं। बेहतर यह है कि बुनियादी शिक्षण के लिए पूरी संख्या में शिक्षक रखे जायँ, जिससे वे ही प्रौढ़-शिक्षा का काम कर सकें।

बुनियादी तालीम एक समुद्र

बुनियादी तालीम एक समुद्र है। उसमें विचार की सब नदियों का समावेश हो जाता है। उसमें स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है। शहर और देहात का भी भेद नहीं रहता, क्योंकि दोनों को मूल शिक्षण वही चाहिए। आगे चलकर कुछ फर्क हो सकता है, लेकिन विरोधी दिशा तो हरगिज नहीं हो सकती।

यह है शिक्षण की जड़। लेकिन मुझे लगता है कि इस तरह जितनी तीव्रता और दूर दृष्टि से देखना चाहिए, नहीं देखा जा रहा है और बहुत सारा शाखाग्राही पांडित्य चल रहा है। उससे समस्याएँ बढ़ ही सकती हैं, हल नहीं की जा सकतीं।

परंधाम-पवनार, ५-११-'४९

मूलोद्योग की शिक्षण-दृष्टि : ३८ :

व्यायाम-दृष्टि

'समवाय-पद्धति' उद्योग द्वारा ज्ञान देना चाहती है। इसलिए जहाँ तक संभव होगा, वह व्यायाम भी उसीमें से निकालेगी। मतलब यह है कि उद्योग करते समय बच्चों के शरीर का उचित

विकास होता है या नहीं, इस ओर शिक्षक को ध्यान देना चाहिए। तेजी के साथ ५-७ मिनट तक लगातार किये जानेवाले व्यायामों की अपेक्षा उद्योग में यदि ठीक ध्यान रखा जाय, तो देर तक और धीरे-धीरे जो व्यायाम होता है, उसका महत्त्व शरीर-शास्त्र की दृष्टि से कम नहीं है।

किंतु उचित ध्यान दिये बिना उत्तम व्यायाम दे सकनेवाले लाभदायी उद्योग भी कष्टप्रद होते देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ "पृष्ठेव तष्ट्यामयी" अर्थात् बढ़ई की पीठ में दर्द होता है और वह टेढ़ी हो जाती है। ऋग्वेद की यह शिकायत हम इन दस हजार वर्षों में भी दूर नहीं कर सके हैं। हमारे देश में ज्यादातर बढ़इयों की पीठें धनुषाकार दिखाई पड़ती हैं और वे सामान्यतः दीर्घायु भी कम होते हैं। वैसे तो बढ़ईगिरी को शरीर के लिए लाभदायक समझना चाहिए, पर दिनभर पीठ झुकाकर काम करने की आदत हमें यह लाभ नहीं उठाने देती। बढ़ई के बहुत-से काम खड़े-खड़े किये जा सकते हैं, इस ओर हम लोगों ने ध्यान ही नहीं दिया।

कुछ देर बैठकर काम करने के बाद खड़े होकर काम करना चाहिए। समयानुसार बैठने के ढंग भी बदले जायँ। दोनों हाथों से अदल-बदलकर काम करना चाहिए। कुछ देर दर्जे के कमरे में काम करने के बाद खुली हवा में कसरत, बगीचा आदि के लिए कुछ समय दिया जाय। कुछ देर निकट देखने का काम, तो कुछ देर दूर देखने का काम रहे, कुछ देर संगीत-गायन और कुछ देर केवल मौन। सारांश यह कि इस प्रकार उद्योग को बिना कुछ हानि पहुँचाये हम काम में विभिन्नता ला सकते हैं, हमें लानी

चाहिए। उदाहरणार्थ अगर बच्चों ने तीस मिनट तक बैठकर तकली पर काता है, तो अटेरन पर सूत लपेटने में पाँच-दस मिनट लगेंगे। यह काम खड़े होकर किया जाय।

कताई के पाठ्यक्रम में दी हुई सूचनाओं में एक यह भी है कि कवायद के द्वारा उद्योग सिखाया जाय। वह सूचना यद्यपि प्रथम वर्ष के लिए दी गयी है, तो भी मामूली तौर पर वह सभी उद्योगों पर लागू होती है। उस सूचना के मूल में व्यायाम कराने का उद्देश्य है।

शिक्षक को खास तौर पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उद्योग की किसी भी क्रिया में या अन्य विषयों की पढ़ाई के समय विद्यार्थियों की शरीर-स्थिति बिल्कुल ठीक रहे।

सातत्य-योग का अभ्यास

बहुत छोटे बच्चों के आसन थोड़ी-थोड़ी देर बाद बदलवाते रहना जिस प्रकार उद्योग का एक पहलू है, उसी प्रकार सातत्य से अर्थात् जमकर एक ही आसन पर या एक ही शरीरस्थिति में काम करने का अभ्यास या धुन विद्यार्थियों में उत्पन्न करना उद्योग का दूसरा पहलू है। इसे "सातत्य-योग" कहते हैं। इसका अभ्यास विद्यार्थियों में उत्तरोत्तर बढ़ना चाहिए। यदि यह मान लें कि तकली कातते समय बहुत छोटे बच्चों का हाथ १५-१५ मिनट पर बदलना है, तो "सातत्य-योग" के अभ्यास के लिए सप्ताह में एक दिन या संभव हो तो रोज ३०-४० मिनट एक ही हाथ से या एक ही आसन से कताई करवायी जाय।

सातत्य के बिना कर्म-योग सिद्ध नहीं होता। आजकल हमारे

शिक्षित लोगों में श्रम-सातत्य का अर्थात् लगातार मेहनत करने की ताकत का प्रायः अभाव दिखाई पड़ता है। यह दोष हमें दूर करना चाहिए। उद्योग की अंतिम परीक्षा कुछ हफ्तों तक रोज आठ घंटे काम करने की है। हमें विद्यार्थियों को धीरे-धीरे इस लक्ष्य की ओर ले जाना चाहिए। जिस प्रकार नदी पर्वत से खेलती-कूदती निकलती है, परंतु अंत में समुद्र के पास स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार उद्योग-शिक्षण का आरंभ "तकली के विविध अभ्यास" नामक प्रकरण में लिखी विविधता के साथ हो, पर अंत में उसे सातत्य पर पहुँचना चाहिए।

कचरे का उपयोग

उद्योग में कचरा कम-से-कम हो और जो हो, उसका भी उपयोग किया जाय, यह एक विशेष ध्यान देने की बात समझनी चाहिए। इस संसार में हम सबसे दरिद्र हैं, परंतु इस विषय में हम उतने ही उदासीन और अपव्ययी (फिजूलखर्च) भी हैं। हम सोन-खाद (मैले की खाद) जैसी अमूल्य खाद को लापरवाही के साथ फेंक देते हैं और उससे रोग फैलाते हैं। मरे हुए जानवरों के बारे में भी करीब-करीब यही दशा है। हम नीबू खाते हैं, पर उसका मूल्यवान छिलका फेंक देते हैं। इस तरह हमारे अपव्ययों के असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसलिए इस संबंध में हमें सभी पहलुओं से गहरा ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ कपास साफ करते समय पीछे पड़ी ढोंढी को निकालकर उसके बिनौले व्यर्थ न फेंकें, धुनाई चटाई के नीचे जमा होनेवाली

रूई को मोटा सूत कातने के या दूसरे किसी काम में ले लें। चरखा सिखाते समय शुरू में जो सूत टूटता है, उससे आलपीन खोंसने की गद्दियाँ (पिन-कुशन्स) बना लें।

सौंदर्य-भावना

अक्सर लोग सवाल उठाते हैं कि छोटे बच्चे सुंदर और सुव्यवस्थित माल कैसे तैयार कर सकेंगे? किंतु यदि उचित ध्यान दिया जाय, तो इस भय की कोई संभावना न रह जाय। अनुभव से यह पता चलता है कि बच्चों के हाथ से निकला सूत उत्तम और साफ हो सकता है। बच्चों में अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है, इसलिए वे सौन्दर्य का भी अनुकरण कर सकते हैं। बच्चे इस बात के लिए कभी राजी नहीं होते कि उनके पिता की थाली में पूरा लड्डू हो और उनकी अपनी थाली में लड्डू का टुकड़ाभर हो। वे चाहते हैं कि उनको भी पूरा ही लड्डू मिले, भले ही वह छोटा हो। व्यावहारिक मनुष्य के उपयोगितावाद को ग्रहण करना बच्चों के लिए जितना कठिन है, सौंदर्य को ग्रहण करना उतना कठिन नहीं।

किंतु सौंदर्य के लिए तो १० ही नम्बर दिये जायँ और असुंदर-सी चीज, जिसमें और गुण तो हों, पर सुंदरता न हो, मजे से ९० नम्बर ले जाय, यह अनुचित ढंग दूर होना चाहिए। जो सुंदर नहीं, उसका शिक्षण में कुछ भी मूल्य नहीं होना चाहिए।

पूनियाँ निश्चित लंबाई की होनी चाहिए। यह बात बच्चों को जितनी जँचेगी, उतनी सयानों को नहीं जँचेगी। सयाने या बड़े

तो यही कहेंगे कि अगर लंबाई कुछ कम-ज्यादा हुई भी, तो क्या बिगड़ता है? निश्चित लंबाई रखने के लिए विशेष ध्यान देना होगा, समय भी ज्यादा लगेगा, लेकिन उसके मुकाबले में लाभ क्या होगा? ऐसे लोगों से हार मानकर ही शायद धर्मशास्त्रकारों ने यह कहा होगा, "अरे भाई, समान पूनियों से स्वर्ग मिलता है।" छोटे बच्चों के शिक्षण में मिथ्या उपयोगवाद को स्थान न मिलना चाहिए। काम कम हो, तो चल सकता है, पर हो वह सुंदर। अर्थात् सौंदर्य के कारण काम कम होने से चलेगा, किंतु यदि गति की मंदता के कारण काम कम हुआ, तो वह ठीक न होगा, यह स्पष्ट है।

सामूहिक भावना

विद्यार्थियों में सामूहिक रूप से एक साथ मिल-जुलकर काम करने की भावना उत्पन्न न हुई, तो हमारे शिक्षकों ने कुछ नहीं किया। यह सामूहिक भावना हम लोगों में प्रायः बहुत कम है। बड़े-बड़े संकटों के अवसरों को छोड़ हम अपने घरों के बाहर दृष्टि तक नहीं दौड़ाते।

उद्योग के द्वारा सामूहिक भावना उत्पन्न करना उद्योग का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाना चाहिए। कोई विद्यार्थी धुनने में असमर्थ हो, तो दूसरे विद्यार्थी को प्रसन्नता से उसका काम करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वह खुद अपने लिए जितनी अच्छी धुनाई करता, उससे ज्यादा अच्छी धुनाई दूसरों के लिए करने की वृत्ति उसमें होनी चाहिए।

अपना-अपना कचरा हरएक उठा ले, परंतु एकाध ने न

उठाया हो, तो दूसरों को चाहिए कि वे उस कचरे को उठाने का भार अपने ऊपर समझें।

"मुझे अपनी गति के बढ़ने से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि मेरी सारी कक्षा की औसत गति उत्तम हो" यह भाव हरएक विद्यार्थी के मन में उठना चाहिए। इसके लिए व्यक्तिगत हिसाब के साथ-साथ सामूहिक हिसाब रखकर उसकी ओर सब विद्यार्थियों का ध्यान खींचना चाहिए।

चरखे की माल बनाना हरएक को आना चाहिए और सबको अपनी-अपनी माल तैयार करनी चाहिए। किंतु यदि सारी कक्षा के लिए या दूसरे विद्यार्थियों के लिए माल तैयार करने का काम मिले, तो उसे बहुत खुशी से और सावधानी के साथ करना चाहिए।

हरएक विद्यार्थी के सूत की मजबूती की जाँच के लिए हर-एक का सूत अलग-अलग बुनवाया जाय। साथ ही बीच-बीच में सारी कक्षा के सूत का कपड़ा बुनवाकर पाठशाला के संग्रहालय में रखा जाय। "यह हमारी कक्षा के सूत का कपड़ा है"—प्रेम की और सामूहिकता की ऐसी वृत्ति छात्रों में उत्पन्न की जाय और सब विद्यार्थी यह समझें कि उस कपड़े के थान के गुण-दोष उन सभी के गुण-दोष हैं।

"तू अभी तक कातने में प्रगति नहीं करता, ध्यान नहीं देता, बाकी सब विद्यार्थी आगे बढ़ रहे हैं, तुझे शर्म क्यों नहीं आती?" शिक्षक को इस तरह की झिड़कियाँ कभी नहीं देनी चाहिए। उसे तो विद्यार्थी से यह कहना चाहिए कि "तू अभी तक सूत-कताई की ओर ध्यान नहीं देता, इससे तेरी कक्षा की प्रगति कैसे

होगी ? कक्षा की प्रगति के लिए तो कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को भरसक प्रयत्न करना चाहिए।"

इसी तरह अनेक उपायों द्वारा विद्यार्थियों में सामूहिक बंधु-भावना उत्पन्न की जानी चाहिए।

साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया

उद्योग की विभिन्न क्रियाओं, साधनों या बातों के संबंध में ज्ञान देते समय हम उद्योग की सीमा में ही रहें, किंतु उसकी सीमा में हम बंद न हो जायँ। जिस प्रकार पर्वत पर बैठकर हम चारों ओर की दुनिया देखते हैं, उसी प्रकार उद्योग में पैर जमा-कर उसके द्वारा हमें अपने चारों ओर के विश्व का निरीक्षण करना चाहिए। इस प्रकार उद्योग द्वारा विश्व-निरीक्षण की पद्धति को साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया कहते हैं। इसकी सहायता से मनुष्य उद्योग में रहता तो है, पर उसमें बंदी नहीं हो जाता।

मान लीजिये कि विद्यार्थियों को यह बात समझानी है कि तकली या चरखा सीधी गति से घुमाना चाहिए। अतः सीधी गति किसे कहते हैं, यह बात उन्हें तकली या चरखा प्रत्यक्ष घुमाकर और उसके घूमने की दिशा की ओर ध्यान आकृष्ट करके बतलानी होगी। किंतु ऐसा करते समय सीधी और उल्टी गतियों के अनेक दृष्टान्त यानी 'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' के दृष्टांत बच्चों के सामने रखने चाहिए। उदाहरणार्थ :

साधर्म्य के उदाहरण

(१) घड़ी की सुइयाँ कैसे घूमती हैं?

(२) कुएँ में बालटी डालते समय गिर्री या रहँट कैसे घूमता है?

(३) पेंच को कसते समय वह कैसे घूमता है?

(४) ताला लगाते समय ताली कैसे घूमती है?

(५) आरती कैसे उतारते हैं?

(६) मंदिर की प्रदक्षिणा कैसे करते हैं?

(७) सलाई-ओटनी कैसे घुमाते हैं?

(८) हाथ-ओटनी किस प्रकार घुमाते हैं?

(९) तेली का कोल्हू कैसे घूमता है?

(१०) लट्टू कैसे घुमाते हैं?

वैधर्म्य के उदाहरण

(१) कुएँ से पानी खींचते समय।

(२) पेंच खोलते समय।

(३) ताला खोलते समय।

(४) चक्की से आटा पीसते समय।

(५) सप्तर्षि या ध्रुव-मत्स्य देखते समय आदि।

ये सब बातें विद्यार्थियों को प्रत्यक्ष रूप से बतलानी चाहिए। इसमें कितना भी समय क्यों न लग जाय, कोई हर्ज नहीं।

साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया का उपयोग वैज्ञानिक एक अभिप्राय से और कवि दूसरे अभिप्राय से किया करते हैं। हमें दोनों अभि-

प्रायों से उसका उपयोग करना चाहिए—अर्थात् उद्योग पर प्रकाश डालकर ज्ञान को खरा बनाने के लिए और ब्रह्मांड की सैर के आनंद की अनुभूति के लिए।

भाषा के द्वारा प्रकाश

किसी मनुष्य को सूत कातना तो अच्छी तरह आता है, लेकिन कातने की क्रिया वह जिस प्रकार करता है, उसे वह भाषा द्वारा प्रकट नहीं कर पाता। तो उसके लिए यह कहा जा सकता है कि उसने पूरे तौर से कातने की प्रक्रिया नहीं समझी। इसे बोलने की शक्ति की कमी नहीं समझा जा सकता। बल्कि इसका अर्थ यह है कि हाथ से किया जानेवाला काम जिन बहुत-सी सूक्ष्म क्रियाओं के मिलने से हुआ है, उनका स्वरूप दिमाग में नहीं जमा। या यों कहिये कि काम करना तो आ गया, लेकिन उस काम का विश्लेषण करना नहीं आया।

हमारे देश के प्रायः सभी कारीगर इसी श्रेणी के हैं। यदि उनस कहा जाय कि हमें काम सिखा दो, तो वे कहेंगे: "भाई, जो कुछ हम करते हैं, उसे देखते जाओ" वे रंदा मारकर दिखायेंगे और कहेंगे: "इस तरह रंदा मारो।" उनके "इस तरह" से आपको जो कुछ समझना हो, समझ लीजिये।

हमें यह हालत बदलनी है। हाथ और बुद्धि, दोनों को मिलानेवाली है—वाणी। इसलिए उद्योग की क्रियाएँ और वाणी द्वारा उन्हें व्यक्त करने की शक्ति, दोनों विद्याएँ जब तक विद्यार्थी को न आ जायँ, तब तक यह न समझना चाहिए कि उसे उद्योग आ गया।

वाणी का अर्थ है : "निश्चित और स्पष्ट वाणी" उदाहरणार्थ पेंसिल को लंबरूप में खड़ी करने पर बहुत-से लोग उसे "सीधी" कहते हैं। दूसरे रूप में खड़ी करने पर उसे "टेढ़ी" कहते हैं। वास्तव में पहली खड़ी है, दूसरी तिरछी है, पर दोनों हालतों में सीधी हैं। हाल में ही किसी शिक्षा-विभाग की ओर से प्रकाशित एक पुस्तक में शिक्षकों को सूचना दी गयी थी कि "अमुक श्रेणी के बच्चों को जोड़ सिखलाने में संख्याएँ पचास से ऊपर न हों।" परंतु कहना यह था कि जोड़ के लिए ऐसी संख्याएँ ली जायँ, जिनका योगफल पचास से अधिक न हो। इस प्रकार कहा कुछ जाय और अर्थ कुछ निकले, उसे मैं वाणी नहीं कहता।

यह बात मातृभाषा के क्षेत्र की है। इसलिए मातृभाषा की कक्षा में इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। किंतु मेरे विचार से तो यह बात उद्योग के ही अंतर्गत आ जाती है, और सिर्फ उद्योग की शिक्षा देनेवाली पाठशालाओं में भी हम इसे छोड़ नहीं सकते।

शास्त्रीय बुद्धि

उद्योग द्वारा विद्यार्थियों में शास्त्रीय बुद्धि का विकास होता रहना चाहिए। शास्त्रीय बुद्धि में निम्नलिखित बातों का समावेश होता है :

(१) पृथक्करण—किसी बात का या वस्तु का विश्लेषण करना। अर्थात् उसके विभिन्न भागों को अलग-अलग करना।

(२) एकीकरण—पृथक्करण का उल्टा। अर्थात् किसी बात या वस्तु के विभिन्न भागों का संयोजन करना।

(३) वर्गीकरण—भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित करना।

(४) अनुक्रम—सिलसिलेवार जमाना।

(५) साहचर्य—कौनसी बात या वस्तु दूसरी किस बात या वस्तु से मिलती है, यह देखना।

(६) कार्य-कारणभाव—कार्य से परिणाम पर पहुँचना और परिणाम को देखकर उसके कारण का पता लगाना।

(७) इंद्रियप्रामाण्य—इन्द्रियों के ज्ञान से वस्तुओं का अनुमान लगाना।

(८) इंद्रियभ्रम—इंद्रियों के भ्रम में न पड़ना। अर्थात् ऊपरी रूप को देखकर भुलावे में न पड़ना।

(९) महत्त्वमापन अथवा तारतम्य—वस्तुओं के आकार-प्रकार की तुलना करना।

(१०) संशय—संदेह का निवारण करना।

(११) निश्चय—निश्चित परिणाम पर पहुँचना।

अगर इन सबके उदाहरण दिये जायँ, तो विषय बहुत बढ़ जायगा। संक्षेप में खास बात यह है कि उद्योग के द्वारा बुद्धि में अन्वेषण (छानबीन या खोज) की शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए। अमुक बात इस प्रकार से करनी या नहीं करनी है, केवल इस तरह के विधि-निषेध के ज्ञान से उद्योग में वास्तविकता और सजीवता नहीं आ सकती। ऐसा नहीं होना चाहिए। कोई बात क्यों करनी चाहिए और क्यों नहीं करनी चाहिए, इसका कारण जाने बिना, केवल आँख मूँदकर विधि-निषेध का पालन करने से उद्योग में प्रगति नहीं हो सकती।

कोई विधि अथवा निषेध करते समय उसका कारण उसी समय बताना जरूरी नहीं है। कारण की मीमांसा आवश्यकतानुसार आगे-पीछे या साथ-साथ कर सकते हैं, पर वह हो अवश्य, इतना ही मुझे कहना है। सिखाने की पद्धति ऐसी हो कि विद्यार्थियों के दिल में प्रश्न उठते जायँ और वे स्वयं उन्हें शिक्षकों के सामने रखते जायँ। अवसर देखकर शिक्षक स्वयं भी प्रश्न करें और विद्यार्थी उनके संबंध में चर्चा करें।

जिन प्रश्नों को मामूली तौर पर कोई न पूछे, ऐसे प्रश्न भी पैदा किये जायँ। उदाहरणार्थ, चरखे का चक्र चौखूँटा क्यों न हो? इस तरह का प्रश्न मामूली तौर पर कोई नहीं पूछता। अगर किसीने पूछा भी, तो लोग उसे मूर्ख समझेंगे। किंतु हम तो उसे चतुर समझेंगे। इतना ही नहीं, बल्कि हम स्वयं ऐसा प्रश्न उपस्थित करेंगे और उसका शास्त्रीय उत्तर तर्क द्वारा निकलवायेंगे।

परिश्रम-निष्ठा

परिश्रम अलग चीज है और परिश्रम-निष्ठा, परिश्रम के प्रति आदर और प्रेम अलग चीज। संसार में ज्यादातर लोग शारीरिक परिश्रम (मेहनत) करनेवाले ही हैं। परंतु वे अक्सर मजबूर होकर मेहनत करते हैं। बहुत-से लोग तो मेहनत के कामों से यदि बच सकें, तो बचना ही चाहेंगे। कुछ लोग तो शारीरिक परिश्रम से बचकर अर्थात् उसका भार दूसरों पर लादकर भी प्रतिष्ठित बने बैठे हैं। इसीसे साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, युद्ध, विषमता (छोटे-बड़े भेद, ऊँच-नीच आदि भेद) आदि की उत्पत्ति हुई है। इन सबका केवल एक ही इलाज है,

और वह यह कि विद्यार्थियों में यह भावना पैदा की जाय कि बिना कुछ शरीर-श्रम किये शरीर को अन्न देना, अपने और समाज के प्रति अपराध करना है।

हमारी शिक्षा-प्रणाली द्वारा शिक्षा पाये शिक्षितों में इस प्रकार की भावना खूब जोरदार होनी चाहिए। हमारे देश में आजकल तो यह हालत है कि बच्चों को पढ़ने के लिए स्कूल भेजने पर वे गोबर उठाने में तो आनाकानी करते हैं, मगर दूध पीकर खुश होते हैं। किंतु होना यह चाहिए कि हमारी शिक्षा-प्रणाली से शिक्षित होकर निकलनेवाले बच्चे गाय का गोबर उठाने में हर्ष प्रकट करें और दूध पीने में, चूँकि दूसरों को वह नहीं मिलता है, संकोच मानें।

इसलिए विद्यार्थियों के साथ-साथ शिक्षक को भी यथाशक्ति शारीरिक परिश्रम के कामों में भाग लेना चाहिए। पाठशाला के समय उसका किया हुआ उद्योग पाठशाला का ही समझा जाय। परंतु इसके अलावा विद्यार्थियों के सामने हरदम यह उदाहरण रहना चाहिए कि शिक्षक और उसके घरवाले अवकाश के समय और छुट्टी में अन्य देहाती मजदूरों की तरह ही प्रसन्नता से शारीरिक श्रम करते हैं।

गाँव की गंदगियों को दूर करना आदि सार्वजनिक कार्य तो शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों को मिलकर यथावसर करने ही हैं, परंतु पाठशाला को बुहारना, पाठशाला का आँगन साफ करना, उसे गोबर से लीपना आदि कार्य भी विद्यार्थियों के साथ शिक्षक करें, ऐसा नियम होना चाहिए। तुच्छ समझा जानेवाला कोई भी काम केवल विद्यार्थियों को नहीं सौंपना चाहिए, बल्कि शिक्षक

को उसे स्वयं करना और बच्चों से कराना चाहिए। इस प्रकार किये बिना बच्चों में परिश्रम-निष्ठा उत्पन्न नहीं होगी।

'सोन-खाद' का उत्तम उपयोग किस प्रकार किया जाता है और पाखाने की आदर्श व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, इसकी शिक्षा भी पाठशाला के उद्योग के अंतर्गत समझी जानी चाहिए। फिर चाहे वह उद्योग कताई का हो या बढ़ईगिरी का या खेती का।

राष्ट्रीय झंडे पर बना चरखा शारीरिक परिश्रम का अर्थात् अहिंसा का चिह्न है। इसका अहसास पाठशाला के औद्योगिक वातावरण के जरिये होना चाहिए।

—'मूल उद्योग कातना' से

पकड़ का कोष्ठक : ३६ :

पाठशालाओं में छात्रों को गणित के लिए कोष्ठक सिखलाने पड़ते हैं। बचपन में गुरुजी ने रटाई और छड़ी, इन दो औजारों के बल पर हमारे गले भी ये कोष्ठक उतारे, पर उनमें से बहुत-से शरीर में भिदे नहीं। इसका एक कारण तो इन दोनों औजारों और दूसरे कुछ कोष्ठकों का प्रायः निरुपयोगी होना था। वास्तव में कोष्ठक जीवनोपयोगी हों, तो जीना चाहनेवालों को वे पसन्द आयेंगे ही। वे इसी ढंग से सिखलाने भी चाहिए कि पसन्द ही आयें। इस बारे में दिग्दर्शन के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ।

'एकड़' शब्द की व्याख्या

जीवन का प्रमुख आधार खेती है और वह एकड़ से मापी जाती है। इसलिए बच्चों को एकड़ का कोष्ठक सिखलाना आवश्यक है। वह कैसे सिखलाया जाय, इसी पर विचार करें। इससे पहले यह बता देना आवश्यक है कि यह 'एकड़' अंग्रेजी का शब्द है। पर चूँकि अब वह हम लोगों के यहाँ प्रचलित हो गया है, इसलिए उसकी स्वदेशी व्याख्या यह है : "एकड़ यानी खेती मापने का अंक।" हिन्दुस्तान में सरसरी तौर पर प्रतिव्यक्ति एक एकड़ जमीन पड़ती है। इसलिए आज की स्थिति में हिन्दुस्तान में एक आदमी की मालकियत की जमीन 'एकड़' है। इस तरह दुहरी युक्ति से 'एक' शब्द से 'एकड़' शब्द की व्याख्या करनी चाहिए, जिससे वह शब्द बच्चों को सहज ही हृदयंगम हो जाय।

१२१ × १२१ फुट के ३६० टुकड़े = एकड़

एकड़ का अर्थ ४८४० वर्गगज बताया जाता है। यह विलक्षण आँकड़ा कैसे याद रहे? उसके लिए दो महत्तम अवयव किये जायँ। वे होंगे १२१ × ४०। इस १२१ वर्गगज को 'गुंठा' नाम देकर ४० गुंठे याने एकड़, इस तरह कोष्ठक बनाया गया है। पर हम गज की भाषा छोड़ फुट की भाषा अपनायें और गुंठों के भी और छोटे भाग बनायें। गुंठा यानी १२१ वर्गगज जमीन अर्थात् ११ गज × ११ गज, इस तरह एक जमीन का चौरस टुकड़ा हुआ। उसके ११ फुट लम्बे और ११ फुट चौड़े, ऐसे ९ टुकड़े किये जा सकेंगे। ये १२१ वर्गफुट के छोटे टुकड़े गुंठा में ९ यानी एकड़ में ३६० होंगे।

११ फुट × ११ फुट = १ घंटा

मोटे तौर पर साल के ३६० दिन होते हैं। अगर हम रोज १२१ वर्गफुट जमीन खोदने का निश्चय करें, तो एक साल में १ एकड़ जमीन खोदी जायगी। हम भूल जायँगे कि बरसाती दिन जमीन खोदने में आड़े आयेंगे। इतनी जमीन रोज खोदनी ही हो, तो रोज कितना समय लगेगा? आदमी की सामर्थ्य, जमीन के प्रकार, ऋतुमान और औजारों की योग्यता के अनुसार इस प्रश्न का भिन्न-भिन्न उत्तर होगा, पर अनुभव में यही आया कि इस काम में ४० से ८० मिनट लगेंगे। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि एक घण्टा लगता है। चूँकि एक घंटे में यह जमीन खोदी जाती है, इसलिए लक्षणावृत्ति से इस जमीन को हम 'घण्टा' कहेंगे। घण्टा यानी ११ फुट × ११ फुट जमीन—यह ध्यान रखना कठिन नहीं। "एक पर एक ग्यारह" यह सूत्र बच्चों को मालूम ही है। ११ फुट लम्बी लकड़ी बनायेंगे और उससे औरस-चौरस जगह रेखांकित कर अपने इस घण्टे का बच्चों को प्रत्यक्ष दर्शन करा देंगे। अब ऐसे ३६० घण्टे मिलकर १ एकड़, इस तरह सीधा-सादा कोष्ठक तैयार हो गया। (यहाँ घण्टे का अर्थ ११ फुट × ११ फुट की सम चौरस जमीन न होकर १२१ वर्गफुट जमीन, इतना ही है—यह बात बच्चों के ध्यान में ला देनी चाहिए। १२१ वर्गफुट जमीन अनेक प्रकार की हो सकती है। हमने स्मरण रखने की सुविधा के लिए उसे ११ फुट × ११ फुट लिया है।) अगर हमें खेती के लिए बच्चों को जमीन बाँट देनी हो, तो उसे घण्टों के माप से ही बाँटेंगे। किसीको एक घण्टा

जमीन, तो किसीको दो घण्टा जमीन देंगे। इससे बच्चों को अपनी-अपनी फसल पर से प्रति एकड़ फसल का हिसाब लगाना सुलभ हो जायगा।

१ फर्लाङ्ग × १ फर्लाङ्ग = १० एकड़ = आगर

अब तक एकड़ का नीचे से कोष्ठक देखा गया, अब ऊपर से देखा जाय। एक फर्लांग औरस-चौरस जमीन ४८,४०० वर्गगज होती है, याने दस एकड़। साधारणतः जमीन का एक टुकड़ा १० एकड़ का माना जाता है। मध्यप्रदेश सरकार ने १० एकड़ से कम जमीनवाले किसानों को दो आना रुपया छूट कर दी है—यह बात शिक्षकों ने बच्चों को बतायी ही है। इसी पर से उन्हें बच्चों के मन में यह बात बैठा देनी चाहिए कि साधारणतः खेत १० एकड़ का होता है। ऊपर बताया ही जा चुका है कि हिन्दुस्तान में प्रतिव्यक्ति के पीछे एक एकड़ जमीन पड़ती है। ५ व्यक्तियों के एक कुटुंब के लिए ५ एकड़ हुए। आज हिन्दुस्तान में ७५ प्रतिशत कृषक हैं, जब कि ४० साल पहले ७० प्रतिशत थे। देश के उद्योग-धंधों का ह्रास होते जाने से इन ४० वर्षों में अधिकाधिक लोगों का भार खेती पर पड़ा और खेतिहरों की संख्या ७० से ७५ प्रतिशत हो गयी। अच्छी स्थिति वही समझी जायगी, जब कि ५० प्रतिशत लोगों का भार केवल खेती पर पड़े। अगर आज वैसी स्थिति होती, तो प्रत्येक कृषक कुटुंब के हिस्से में सरसरी तौर पर १० एकड़ जमीन पड़ती। एक बैल-जोड़ी के लिए २० एकड़ जिराइत (खेती की जमीन) लगती है। पर कुछ जिराइत और कुछ बगीचे की जमीन ली

जाय, तो १० एकड़ का टुकड़ा एक बैल-जोड़ी के लिए छोटा नहीं पड़ेगा। कुल मिलाकर किसी भी प्रकार दस एकड़ खेत 'सर्व साधारण खेत' निश्चित होता है। इसे हम 'आगर' नाम दें और बच्चों को सिखायें कि दस एकड़ यानी एक आगर।

६४० एकड़ = १ वर्गमील

यह 'आगर' ठीक चौरस होगा, तो एक फर्लांग लम्बा और एक फर्लांग चौड़ा होगा। फर्लांग शब्द का मौलिक अर्थ भी यही है। एक वर्गमील में ऐसे कितने आगर समायेंगे? एक रुपये के जितने पैसे उतने याने ६४। १० एकड़ = १ आगर और ६४ आगर = १ वर्गमील, इसलिए ६४० एकड़ = १ वर्गमील। ६४० का आँकड़ा सूत कातनेवाले बच्चों का सुपरिचित आँकड़ा होने से उन्हें उस कोष्ठक का बोझ नहीं मालूम पड़ेगा। एकड़ याने घण्टे का ३६० गुना और वर्गमील का ६४०वाँ हिस्सा—इस तरह दुहरी पकड़ के बीच एकड़ स्थित है।

यहाँ यह बतलाना अकारण आवश्यक हो गया है कि गुंडी में ६४० तार हुआ करते हैं और वर्गमील में भी ६४० एकड़ होते हैं। इस उपमा द्वारा बच्चों को कोष्ठक समझाना मूलोद्योग द्वारा समवाय साधना नहीं है। मूलोद्योग के बीच से ही एकड़ के कोष्ठकों की आवश्यकता पैदा होना ही समवाय है। उपमा द्वारा ज्ञान को गले उतारना शिक्षक की कला है। यद्यपि उस कला का समवाय से विरोध नहीं, फिर भी स्वयं वह कला समवाय नहीं है।

एकड़ का चढ़ता-उतरता कोष्ठक

१२१ वर्गफुट = १ घण्टा	१० एकड़ = १ आगर
९ घण्टे = १ गुंठा	६४ आगर = १ वर्गमील
४० गुंठे = १ एकड़	६४० एकड़ = १ वर्गमील
३६० घण्टे = १ एकड़	

—'ग्रामसेवा-वृत्त', सितम्बर १९४०

विषय कैसे पढ़ाये जायँ? : ४० :

(एक निजी चर्चा से)

हास्यास्पद समवाय

मैं अब तक दो-चार बार इस विद्यालय की विभिन्न कक्षाओं का निरीक्षण कर आया हूँ। इन कक्षाओं में उद्योग के माध्यम से शिक्षा देने का जो प्रयास किया जा रहा है, उससे मुझे संतोष नहीं हुआ। इसमें शिक्षकों का खास दोष नहीं। सारा प्रयोग ही नया है।

एक कक्षा में एक शिक्षक कोई कहानी सुना रहे थे। उसके अंत में उसका संबंध तकली से जोड़ा गया और फिर तकली का गीत शुरू हुआ। पर इसमें मुझे कृत्रिमता मालूम पड़ी। तकली संबंधी कविता का मतलब तकली द्वारा शिक्षा देना नहीं। इसी तरह तकली द्वारा गणित सिखाने का अर्थ यह नहीं कि बच्चों को पन्द्रह-बीस पूनियाँ दी जायँ और उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर कर

उनके द्वारा जोड़-बाकी करायी जाय। इससे पूनियाँ खराब हो जाती हैं। उनकी जगह कंकड़, पत्थर के टुकड़े देकर भी जोड़-बाकी सिखायी जा सकती है। वस्तुतः उद्योग में मौका देखकर गणित सिखलाना चाहिए। साथ ही किसी भी उद्योग में गणित तो लबालब भरा है।

प्रसंग का उल्लेख भी जरूरी

यहाँ छोटे बच्चों की एक कक्षा चल रही है। साधारणतः वह कक्षा ठीक ही चल रही है, पर मुझे उससे भी पूरा सन्तोष नहीं हुआ। अवश्य ही शिक्षक ने विषयवार लिख रखा है कि उद्योग द्वारा क्या-क्या सिखलाया, पर केवल इतने से काम नहीं चल सकता। उसे यह भी लिख रखना चाहिए कि वह विषय कौन-सा प्रसंग या अवसर देखकर सिखलाया गया? सामाजिक अध्ययन में अमुक-अमुक बात बतायी, इतना ही उल्लेख पर्याप्त नहीं, बल्कि विस्तृत रूप से यह भी लिख रखना चाहिए कि वह बात कौन-सा मौका निकालकर बतायी गयी। कोई भी ज्ञान अप्रासंगिक न दिया जाय, प्रासंगिक ज्ञान ही दिया जाय। इस बात का सदा ध्यान रखें।

समवाय के उदाहरण

सामाजिक अध्ययन के बारे में यह धारणा-सी बनी दीखती है कि सभी विषय उद्योग द्वारा सिखलाये जायँ। पर वह धारणा ठीक नहीं। जैसे चाभी से ताला खोला जाता है, ठीक वैसे ही उद्योग द्वारा जीवन को खोलना है।

मान लीजिये, बारिश का दिन है। तो कक्षा में बच्चों से

पहले यही पूछिये कि क्या आप लोग आज शौच, मुख-मार्जन आदि से निबट आये हैं ? यह प्रश्न आज ही क्यों ? इसलिए कि वर्षा के कारण बच्चे शौच जाने से असकताते हैं।

बच्चों को खिड़की-दरवाजों के बारे में जानकारी करानी है, तो मैं उनसे पूछूँगा : "खिड़कियों का क्या उपयोग है ?" बच्चे कहेंगे : "उनसे उजाला और हवा भीतर आयगी।" फिर मैं पूछूँगा : "छप्पर में खिड़कियाँ बना देने से हवा और रोशनी मिलेगी ही, तो क्या उन्हींसे काम चल सकेगा ?" वे कहेंगे : "नहीं, बाहरी सृष्टि भी दिखाई पड़नी चाहिए।" फिर मैं पूछूँगा : "मान लो, वैसी खिड़कियाँ भी बना दीं। पर उनसे बाहर-भीतर जाना-आना नहीं हो सकेगा, तो उनसे काम चलेगा क्या ?" वे कहेंगे : "नहीं, बाहर-भीतर जाने की व्यवस्था भी चाहिए॥ इसके लिए दरवाजा चाहिए।" इस तरह खिड़कियों और दरवाजों का उपयोग जब उनके ध्यान में आ जायगा, तो मैं उनसे पूछँगा : "बताओ तो, अपने शरीर में ऐसे खिड़की-दरवाजे कौन-कौन-से हैं ?" आँख, कान, मुँह, नाक आदि को संस्कृत में 'द्वार' कहा गया है। गीता में कहा है : "सर्वद्वाराणि संयम्य"—सभी दरवाजों का नियमन कर सभी खिड़की-दरवाजों पर पहरा रखना चाहिए। "नवद्वारे पुरे देही"—नौ दरवाजों के नगर में यह आत्मा निवास करती है। मानव को आँखों पर से खिड़की रखने की कल्पना सूझी होगी ? पर मनुष्य की आँखें तो बहुत छोटी होती हैं। गाय की आँखें बड़ी होती हैं, इसीलिए मनुष्य गाय की आँखों की तरह खिड़कियाँ बनाने लगा। संस्कृत में खिड़कियों का नाम है : 'गवाक्ष।' गवाक्ष माने गाय की आँखें। उसी तरह

को खिड़की अंकित कर दिखाओ, ऐसा मैं लड़कों से कहूँगा। ऐसी आँख बनायी, तो वह चित्र-कला हो गयी। उसके बाद मैं बताऊँगा कि लोगों ने उसमें किस-किस तरह हेर-फेर किया। यह हो गया इतिहास। अब इस तरह की खिड़कियाँ क्या आज कहीं मिलेंगी? यह बतलाने के लिए मैं उन्हें 'लँपलैंड' की ओर ले जाऊँगा और उसी प्रसंग में वहाँ के निवासियों का जीवन तथा अन्य जानकारी कराऊँगा। साराँश, इस तरह प्रासंगिक रूप से दूर देश के लोगों के जीवन की जानकारी देनी चाहिए।

हमारे देश जैसा ही प्राचीन और अत्यन्त घनी आबादीवाला तथा बहुत जोती गयी जमीनवाला देश चीन है। पर चीन इतना उपजाऊ क्यों हैं? जमीन का उपजाऊपन बनाये रखने के लिए क्या करना चाहिए? यह बताते हुए मैं बच्चों को खाद की जानकारी कराऊँगा। स्वर्ण-खाद का उपयोग कैसे किया जाय, यह बात चीनियों से विशेष रूप से सीखने की है। चीन में स्वर्ण-खाद का काफी उपयोग किया जाता है, उससे वहाँ की जमीन इतने साल जोती जाने पर भी उपजाऊ बनी हुई है, यह बात मैं उन्हें समझाऊँगा।

एक अमरीकन ने "चार हजार साल के किसान" नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने बताया है कि "हम अमरीकन लोग उड़ाऊ हैं। हर आदमी के पास १५-२० एकड़ जमीन है। हमारी जमीन अभी केवल चार सौ साल से जोती गयी है। इतना होते हुए भी उपजाऊपन के लिए हम तरह-तरह की रासायनिक खाद डालते और जमीन को बिगाड़ते हैं। स्वर्ण-खाद जैसी

उत्कृष्ट खाद हम व्यर्थ ही बरबाद करते हैं।" शिक्षकों को वह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

अगर किसी दिन जोर की वर्षा हो, तो बच्चों को छुट्टी दे देनी चाहिए। उस वर्षा में बच्चे खेले-कूदेंगे, मौज उड़ायेंगे। उनके साथ ही शिक्षक भी कपड़े उतार, लँगोटी लगाकर उन्हें खेलायें और उन्हें बतायें कि वर्षा परमात्मा की कृपा है। हमारे यहाँ बारिश होने पर छुट्टी होती है, पर इंग्लैंड में धूप होने पर। ऐसा क्यों ? इसलिए कि वहाँ सदा ही दुर्दिन--बादलों से घिरा दिन—होता है। इसी कारण सूरज निकलने पर छुट्टियाँ दी जाती हैं। बच्चे मौज से खेलते-कूदते हैं। इस तरह मैं बच्चों को इंग्लैंड के जलवायु की जानकारी दूँगा।

साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान

सामाजिक शिक्षा में इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र आदि पढ़ाते हैं। इतिहास और भूगोल सिखाने का अर्थ है, बच्चों को काल और देश का परिचय देना। काल और देश, दोनों इतने एकरूप हैं कि किसी भी भाषा में कालवाचक शब्द का स्थलवाचक के लिए भी प्रयोग किया जाता है। "इस प्रश्न का उत्तर आपको पीछे दूँगा", यहाँ 'पीछे' शब्द 'कालवाचक' है। पर "वह उसके पीछे चलने लगा", यहाँ 'पीछे' शब्द 'स्थल-वाचक' है।

जब हम कहते हैं कि इतिहास-भूगोल पढ़ाया जाय, तो उसका यही अर्थ है कि प्राचीनकाल और दूर देश के लोगों की जानकारी करायी जाय। यह जानकारी अगर निकट के ही लोगों की हो,

पर पुराने जमाने की हो, तो 'इतिहास' बन जाती है और आज के ही जमाने के, पर दूर देश के लोगों के बारे में हो, तो 'भूगोल' बन जाती है।

यहाँ एक पक्ष यह कहता है कि छोटे बच्चों को दूर देश और प्राचीनकाल के लोगों की जानकारी करायी जाय। दूसरा पक्ष कहता है कि आज के जमाने से शुरू कर क्रमशः बच्चों को पुराने जमाने की ओर ले जायँ।

उपर्युक्त दोनों मत परस्पर-विरुद्ध-से मालूम पड़ते हैं, पर वास्तव में वैसे नहीं हैं। एक कहता है, अतिप्राचीन बतायें, तो दूसरा कहता है, अतिअर्वाचीन बतायें। पर कोई भी यह नहीं कहता कि बीच का बतायें और वह ठीक भी है। ज्ञान के लिए तुलना अत्यावश्यक वस्तु है और तुलना के लिए या तो आस-पास ठीक पड़ता है या बिलकुल दूर का। दूर का और पास का, दोनों को समझना ही "साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान" कहा जाता है। गांधीजी की अहिंसा की जैसे समाज-सत्तावाद से तुलना की जा सकती है, वैसे ही दूसरी दिशा से उसकी तुलना साम्राज्यवाद से की जा सकती है।

किन्तु यह साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान कभी भी अप्रासंगिक न दिया जाय। शिक्षक उठे और 'लॅपलैंड' की जानकारी कराने लगे, तो वह चल नहीं सकता। प्रसंग उपस्थित कर और उसे पहचान करके ही वह कोई जानकारी दे। ऐसे प्रसंग लाना कोई कठिन बात नहीं। . . .

छोटे बच्चों के लिए कविता : ४१ :

(एक पत्र में से)

छोटे बच्चों को सिखलाये जानेवाले पद्य का अक्षरशः शब्दार्थ उनकी समझ में आ जाय, ऐसी आशा रखना ठीक नहीं। उसका भावार्थ भी उनकी समझ में आ जाय, तो काफी है।

छोटे बच्चों को बचपन के गाने सिखाने की चाल पड़ गयी है। पर मेरा अपना अनुभव है कि वे अध्यात्म-विद्या, साम्ययोग, भक्ति-मार्ग आदि की कल्पना बहुत अच्छी तरह ग्रहण कर लेते हैं। ज्ञानेश्वरी, ज्ञानदेव के अभंग, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम के चुने हुए अभंग, समर्थकृत मन के श्लोक, दासबोध के उपदेश-पाठ, गीताई, वामन पंडित का नीति-शतक आदि अमूल्य साहित्य बालकों को कंठस्थ करा देना चाहिए।

बालकों की स्मरण-शक्ति अच्छी होती है। उससे लाभ उठाकर उपयोगी धर्मामृत उनके गले उतारना चाहिए। रस्किन को ५-६ वर्ष की अवस्था में ही बाइबिल याद हो गयी थी। मैंने अपना अनुभव तो बता ही दिया। ...

गंभीर अध्ययन का सूत्र : ४२ :

समाधियुक्त अध्ययन

अध्ययन में लंबाई-चौड़ाई महत्त्व की चीज नहीं है। महत्त्व है गंभीरता का। बहुत देर तक, घंटों भाँति-भाँति के विषयों

का अध्ययन करते रहने को मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन कहता हूँ। समाधिस्थ होकर नित्य-निरन्तर थोडी देर तक किसी निश्चित विषय के अध्ययन को मैं गंभीर अध्ययन कहता हूँ। दस-बारह घंटे सोना, पर करवटें बदलते रहना, सपने देखते रहना—ऐसी नींद से विश्रांति नहीं मिलती, बल्कि पाँच ही छह घंटे सोवें, किन्तु गाढ़ निद्रा हो, तो इतनी नींद से पूर्ण विश्रांति मिल सकती है। यही बात अध्ययन की भी है। 'समाधि' अध्ययन का मुख्य तत्त्व है।

बुद्धि में नयी कोपलें

समाधियुक्त गंभीर अध्ययन के बिना ज्ञान नहीं। लंबा-चौड़ा अध्ययन बहुत-कुछ फालतू ही होता है। उसमें शक्ति का अपव्यय भी होता है। अनेक विषयों पर गट्ठाभर पढ़ाई करते रहने से कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययन से प्रज्ञा, बुद्धि स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभा के मानी है, बुद्धि में नयी-नयी कोपलें फूटते रहना। नयी कल्पना, नया उत्साह, नयी खोज, नयी स्फूर्ति, ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। लंबी-चौड़ी पढ़ाई के नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

कर्मयोग को स्थान

वर्तमान जीवन में आवश्यक कर्मयोग का स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए, अन्यथा भविष्य-जीवन की आशा में वर्तमान काल में मरने जैसा प्रकार बन जाता है। शरीर की स्थिति पर कितना विश्वास किया जाता है, यह प्रत्येक के अनुभव में आनेवाली बात है। भगवान् की हम सब पर अपार

कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

निश्चित दिशा

दो बिन्दुओं स रेखा का निश्चय होता है। जीवन का मार्ग भी तो दो बिन्दुओं से ही निश्चित होता है। हम हैं कहाँ, यह पहला बिन्दु, हमें जाना कहाँ है, यह दूसरा बिन्दु। इन दो बिन्दुओं का तय कर लेना जीवन की दिशा तय कर लेना है। इस दिशा पर लक्ष्य रखे बिना इधर-उधर भटकते रहने से रास्ता तय नहीं हो पाता।

सारांश यह कि गम्भीर अध्ययन का सूत्र है : "अल्पमात्रा, सातत्य, समाधि, कर्मविकाश और निश्चित दिशा।"

—'जीवन-दृष्टि' से

रेखन के औजार : ४३ :

'ड्राइंग' उर्फ 'रेखन' मूलोद्योगी पाठ्यक्रम का एक विषय है और उसे स्थान भी महत्त्व का दिया गया है। कारण उद्योग से वह भी उसी तरह दृढ़ संबद्ध है। किन्तु जब उस रेखन के लिए लगनेवाले साधनों की नामावली पेश हुई, तो मैं घबड़ा उठा। रंग की बट्टियाँ, ब्रश, रेखन-कागज आदि प्रत्येक छात्र के लिए लगनेवाला क्षयरोगी सामान कौन खरीदे? विद्यार्थी खरीदें, तो गाँवों के गरीब छात्रों के लिए वह संभव नहीं और सरकार खरीदे, तो योजना महँगी पड़ेगी। तब क्या किया जाय?

अन्ततः मुझे स्पष्ट कहना पड़ा कि इस तरह का सामान कोई भी न खरीदे—न सरकार ही खरीदे और न छात्र ही। तब प्रश्न था कि रेखन के पाठ्यक्रम की योजना पूरी कैसे की जाय ?

चित्रकला कर्मयोगी हो

यह मुद्दा अच्छी तरह समझ लेने का है। चित्रकला दो प्रकार की है : एक सौन्दर्य की और दूसरी उद्योग की। अथवा अधिक परिष्कृत भाषा में कहा जाय, तो एक भक्ति की है और दूसरी कर्मयोग की। पाठ्यक्रम में दोनों का ही समावेश किया गया है। पर उसमें भी मेरी दृष्टि से तारतम्य रखा गया है। जीवन में और शिक्षा में कर्मयोग प्रधान है, यह भुलाया नहीं जा सकता। भक्ति उस कर्मयोग की शोभा है और ज्ञान उसीकी प्रभा। साधारणतः मूलोद्योग की यही विचार-सरणी है और रेखन के बारे में भी वह उसी तरह लागू होती है।

कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी आदि सभी उद्योग और लेखनादि कलाएँ जिस रेखन की मदद चाहती हैं, वही मुख्यतः कर्मयोगी-रेखन है। इसमें विभिन्न आलेख तैयार करना, नक्शे पर से अमुकगुने आकार का नक्शा तैयार करना, किसी नवीन मोढ़िये के दिखाई पड़ने पर उसे प्रत्यक्ष या स्मृति के आधार पर रेखांकित करना या उससे सम्बद्ध कोई कल्पना सूझे, तो उसे चित्र में अंकित करना आदि लिखित, रेखांकित, दृष्ट, स्मृत और कल्पित सभी रेखनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

पटिया-पेन्सिल प्रमुख साधन

इस कर्मयोगी-रेखन के लिए विशेष साधन नहीं चाहिए। बहुत-सा तो साधारण पटिया-पेन्सिल से भी हो सकता है। कुछ के लिए कागज लगेगा, तो उसका कम-से-कम उपयोग किया जाय। जिसे 'ड्राइंग पेपर' रेखन का कागज कहते हैं, उसकी प्रायः कतई आवश्यकता नहीं। रबड़ का उपयोग करने जैसा गन्दा कोई काम नहीं। उसे पूर्णतः वर्जित मानना चाहिए। पहले पटिया पर हाथ पूरा जमा करके ही बहुत आवश्यक होने पर कागज हाथ में लिया जाय। रूलदार कागज आलेख के लिए और अन्य ड्राइंग पेपर चित्रकला के लिए लगता है। उन्हें भी सीधा बना-बनाया न खरीदा जाय, बल्कि छात्र ही उन्हें रूलदार बना लें। यह भी रेखन-कला का एक अंग ही समझा जाय। ऐसी दृष्टि रखने से उद्योग, कला, ज्ञान, आनन्द और स्वावलंबन एक साथ सध जाता है और साधनों के जंजाल में नहीं पड़ना पड़ता।

रंगीन चित्रकला

परन्तु कर्मयोगी-रेखन मुख्य मान लेने पर भी उसी सिलसिले में सौंदर्य का रेखन भी आवश्यक है। कर्मयोग की शोभा के लिए उसकी आवश्यकता है, उसके लिए तरह-तरह के साधन लगेंगे ही। फिर उनके लिए क्या किया जाय? यह प्रश्न शेष ही रहता है। हाँ, उसीके उत्तर के लिए यह लेख लिखा गया है और उसी पर हम आगे विचार करेंगे। बीच में थोड़ा तारतम्य देख लिया गया।

रंगपंचमी का दृष्टांत

दूसरे अन्य गाँवों की तरह हमारे पवनार में भी रंगपंचमी मनायी गयी। हमारे परिश्रमालय के बच्चों ने भी गाँव की रीति के अनुसार उसमें भाग लिया। बाजार से रंग खरीदकर एक-दूसरे के कपड़े खराब किये। बाद में साबुन लगाकर, वह साबुन भी बाजार से ही खरीदा था, उन कपड़ों को धोना पड़ा। फिर भी वह रंग मिटता ही न था। गाँव के अन्य लोगों के लिए कपड़े धोने का प्रपंच न था, कारण परिश्रमालय के बच्चों को प्राप्त स्वच्छता की इन्द्रिय उन्हें प्राप्त न थी। मैंने उन बच्चों से कहा: "रंग खेलने में समय बिताने के बारे में मैं कुछ नहीं कहता। पर रंग और साबुन में पैसा बहाकर क्या किया? इतना करके भी क्या पाया? सच्चा आनन्द तो मिला ही नहीं। केवल 'मुफ्त का चन्दन घिस मेरे लल्लू' वाला हाल किया। उसके बजाय काम समाप्त होने पर शाम को नदी के किनारे-किनारे दो मील चले जाते, तो मानो तुम्हीं लोगों के लिए फूले हुए पलाश के पेड़ तुम्हें दिखाई पड़ते। तुम लोग उन फूलों से रंग बना सकते थे और वह रंग बने-बनाये बुकनी के रंग से कहीं अधिक सौम्य एवं आह्लाद-दायक होता और उसे साफ करने में भी इतनी अड़चन न पड़ती। अब तुम्हीं बताओ कि मेरा बताया हुआ यह उद्योग अधिक आनन्ददायक होता या तुम लोगों ने किया सो उद्योग?" बच्चों ने एक मत से मेरे सुझाव को अच्छा बताया।

प्रकृति को गुरु बनाइये

रंगपंचमी की इस कहानी में सौंदर्य-चित्रण के प्रश्न का उत्तर

मिलेगा। छात्रों के चारों ओर प्रकृति खड़ी है। उस प्रकृति के साथ एकरूप हो उसके द्वारा आनन्द-प्राप्ति और आनन्द-शुद्धि साध लेना ही सौन्दर्य-रेखन का उद्देश्य है। छात्रों के आसपास की जो प्रकृति उनके इस सौन्दर्य-चित्रण के लिए विषयों की पूर्ति करेगी, वह अगर उनके साधनों की पूर्ति में समर्थ न हुई, तो ईश्वर की कला ही क्या रही? बच्चों के पेट में भूख लगते ही माता के स्तनों में दूध ला देने की उसकी योजना हमारे ध्यान में क्यों नहीं आती? आसपास के पेड़ हमारे लिए अच्छे ब्रश और उत्तम रंगों की पूर्ति कर सकते हैं। साथ ही चित्रण का विषय भी उनमें भरा हुआ है। प्रकृति तो कामधेनु-सी है। वह दूध तो देती ही है, उसे पीने के लिए कटोरी भी देती है। केवल माँगने की ही देर है।

"आनन्द-प्राप्ति" और "आनन्द-शुद्धि" यह दुहरा उद्देश्य ध्यान में रखने योग्य है। आनन्द तो प्राणिमात्र को उपलब्ध है। अधिक क्या, वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। मुख्य प्रश्न तो उस आनन्द को विशुद्ध बनाने का है।

बचपन की दीवाली

मेरा बचपन कोंकण के पहाड़ों से घिरे एक गाँव में बीता है। प्रायः हर दीवाली को मुझे याद आता है कि उस गाँव में हम लोग दीवाली में दीपक कैसे जलाते थे। उसके लिए जंगल में जाकर कोरांटी के सहज गोल फल बीन लाते और उन्हें आधो-आध काट भीतर का गूदा निकाल फेंकते, तो कैसी सुन्दर परई बन जाती। पर वह मारवाड़ी लोटे की तरह बे-पेंदी की होती।

मारवाड़ी लोटे को मारवाड़ की रेती की बैठकी तैयार करनी पड़ती। उस पर दियरियों के विराजमान होने पर उनमें कोंकण का शुद्ध स्वदेशी गरी का तेल भरा जाता। कोंकण में रूई दुर्लभ होने पर देवकपास हम लोगों की बत्तियों का काम पूरा कर देती। इस तरह हम लोगों के दीपक तैयार होते। फिर वे चतुष्कोण, त्रिकोण और वर्तुलाकार सुन्दर पंक्तियों में सजा दिये जाते। बस, हो गयी हम लोगों की दीवाली। दीवाली याने चार महीनों की बरसात के बाद पहली निरभ्र अमावस्या। अपने दिव्य वैभव के साथ पूर्ण प्रकट हुई रजनी देवी। चन्द्र के साम्राज्य को मिटा परस्पर सहकारिता से सौन्दर्यनिर्माणार्थ सजी हुई छोटी-बड़ी स्वायत्त तारिकाएँ और उनकी वे आकृतियाँ। अगर हम लोग अपने इन दीपकों से सजाये होते, तो अमा का स्वराज्य और भी अधिक रंगत लाता। पर यह कल्पना उस समय नहीं सूझी, इस-लिए उतनी कमी रह ही गयी।

दीवाली का दूसरा दृश्य

यह चालीस साल पहले का पुराना ग्रामीण संस्मरण है। अब दूसरा नया सुधरा हुआ ग्रामीण दीवाली का संस्मरण सुनिये। खादी-कार्य देखने के लिए मैं एक बार सावली गया था। दीपावली का दिन था। सावली के बच्चों ने जस्ते के पतरे से बनी मिट्टी के तेल की बिना काँच की चिमनियों को पंक्तिबद्ध रखकर दीवाली मनायी। मिल की चिमनी से या सिगरेट फूँकनेवालों के मुँह से जिस तरह धुएँ के अम्बार निकलते हैं, उसी तरह उनसे धुएँ के अम्बार निकलते रहें। बेचारे बच्चों को दीवाली

का आनन्द मिल ही गया। इसमें उनका क्या दोष? अंग्रेजी सुधार की कीमिया .क्या मामूली है? कहावत है: "देव की करनी, नारियल में पानी। अंग्रेजों की करनी, बंबे में पानी।"

सच्चा समन्वय

पर शिक्षक कहते हैं कि "आनन्द-शुद्धि की यह मीमांसा तो ठीक है, पर आपके कथनानुसार कूँचे तैयार करने, फूलों और पत्रों से रंग बनाने का मतलब यह होगा कि काम और भी बढ़ जायगा। फिर बाकी के ज्ञान की व्यवस्था कैसे हो सकेगी?" पर यह आक्षेप समवाय-पद्धति का ठीक-ठीक स्वरूप न समझने के कारण ही किया जाता है। यह प्रश्न ठीक वैसा ही है, जैसे कोई कहे कि 'अन्न काफी पैदा हो जाय, तो भूख का क्या होगा?' यह प्रश्न इतना सरल है कि उत्तर देने की भी जरूरत नहीं और इतना कठिन भी है कि उसके लिए प्रत्यक्ष वैसी पाठशाला चलानी पड़ेगी।

यहाँ मूलोद्योग के पाठ्यक्रम के दो उद्देश्य—'उद्योग-सिद्धि' और 'आनन्द-शुद्धि' बतलाना अभीष्ट था, जो साधनों के विचार के सिलसिले में बता दिया।

—'सिंहावलोकन' से

चित्रकला की दृष्टि : ४४ :

संगीत और चित्रकला के उद्देश्य

कुछ दिन पूर्व बालकोबा ने मुझसे पूछा था कि "संगीत और चित्रकला के उद्देश्य क्या हैं?" मैंने उसे उत्तर दिया कि

"इस दुनिया में भगवान् के नाम और रूप, ये ही दो गुण प्रकट हुए हैं, बाकी ईश्वर-ता अव्यक्त ही है। इन गुणों में संगीत द्वारा उसका नाम गाया जाय और चित्रकला द्वारा उसका रूप चित्रित किया जाय।"

हमारी शिक्षा के पाठ्यक्रम में पहली कक्षा से ही चित्रकला को स्थान दिया गया है। हम लोग उद्योग द्वारा शिक्षा देने की जो बात सोचते हैं, उसमें बिना चित्रकला के काम चल ही नहीं सकता। पर चित्रकला और चित्रकला की दृष्टि में अन्तर है। चित्रकला की दृष्टि जिसे प्राप्त है, वह व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में बेढंगा व्यवहार नहीं करेगा। छात्रों में चित्रकला की ऐसी दृष्टि आनी चाहिए। चित्रकला से बच्चों को सिर्फ उंगलियों को मोड़ लगना ही काफी नहीं, उनके नेत्रों को भी चित्रकला में दक्ष रहना चाहिए। छात्र तनकर बैठे हैं या नहीं, कवायद में समानान्तर खड़े हैं या नहीं, खाने के लिए सीधे पंक्तिबद्ध बैठे हैं या नहीं, इन सब बातों में भी चित्रकला है।

नीबू कैसे चीरा जाय, यह भी चित्रकला का विषय है। नीबू बराबर आड़ा काटना चाहिए। कारण उससे बीज और रस सरलता से निकाला जा सकता है। इसी तरह सन्तरे कैसे खाये जायँ? उसके छिलकों की बराबर दो कटोरियाँ बनायें, जिनमें संतरा खाने के बाद शेष सीठी डाली जा सके। पपीता खड़ा न काटकर आड़ा काटना चाहिए, जिससे उसकी भी दो कटोरियाँ बन जायँ। केला भी पूरा नहीं, थोड़ा-थोड़ा छीलकर खाना चाहिए। अगर सारा छिलका निकाल डालें, तो हाथ गन्दे हो जायँगे। ऐसे और भी उदाहरण देने में

आयेंगे। व्यवस्थितता और सौंदर्य-दृष्टि चित्रकला का विषय है।

इन दिनों कुछ लोग सिर पर काली टोपी पहने दीख पड़ते हैं; किन्तु हिन्दुस्तान के लोग पहले से ही काले होते हैं। उनका चेहरा काला, बाल काले और टोपी भी काली—यानें मनुष्य बिलकुल कौआ जैसा बन जाता है। सौन्दर्य प्रकट करने के लिए तरह-तरह के रंगों का मिश्रण अपेक्षित होता है। विभिन्न रंगों से विभिन्न प्रकार की भावनाएँ प्रकट होती हैं।

शुभ्र सफेद रंग पवित्रता का द्योतक है और लाल-गुलाबी रंग प्रेमदर्शक। गुलाबी ऊषा परमेश्वर का प्रेम ही है। सुबह की ऊषा प्रभात में बच्चों को जगानेवाली माँ का प्यारा और उद्‌बोधक स्वरूप है। किसी भी कवि या चित्रकार का काम ऊषा-दर्शन के बिना चल ही नहीं सकता।

और वह आकाश-दर्शन! चित्रकला भला उसे कैसे भुला सकेगी! रात्रि-काल में वह गुरु, वह शुक्र कितना चमकीला दीखता है! उन्हें देखकर मन में कितनी पवित्र भावनाएँ उठती हैं! 'शुक्र' शब्द भी शुचि से बना हुआ है। इन तारों के आगे मोती आदि भी, जिन्हें हम साँस रोककर समुद्र में डुबकियाँ लगाकर निकालते हैं, तुच्छ मालूम पड़ते हैं। तुलसीदासजी ने रामराज्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि रामराज्य में समुद्र स्वयं ही किनारे पर मोती फेंक जाता था। पर मुझे लगता है, उन्हें एक और चौपाई लिखनी चाहिए थी कि किनारे पर के मिले उन मोतियों को बच्चे खेलने के लिए ले जाते और खेलते-खेलते उन्हें फिर से समुद्र में फेंक देते थे। इससे मोतियों का उचित

मूल्य दिखाया गया होता। आज सुन्दर पानीदार मोती हो, तो हम उसका मूल्य पैसों में आँकने लगते हैं। पैसे से सौन्दर्य की तुलना निरा गँवारूपन है।

चित्रकला में प्रकृति का दर्शन अनिवार्य है। मनुस्मृति में बताया गया है कि सुबह उठने के बाद मुँह-आँखें धोये बगैर नक्षत्रों का दर्शन न करें । नक्षत्रों का इतना पावन सौंदर्य ऐसी अमंगल आँखों से कैसे देखा जाय?

रंगवल्ली (रांगोळी) की कल्पना भी मनुष्य ने नक्षत्रों पर से सोच निकाली है। रंगवल्ली बनाने का नियम यह है कि पहले बिंदी-बिंदी बनायी जायँ, फिर उन्हें एक-दूसरे से जोड़कर अभीष्ट आकार दिया जाय। स्पष्ट है कि यह कल्पना आकाश के तारों पर से ही निकली है। हम उसमें कल्पना से आकार भर देते हैं। और दीवाली का भी उद्देश्य क्या है? आकाश की चित्रकला को नीचे जमीन पर अंकित करना ही तो है। दीवाली याने आकाश के धुल जाने के बाद की अमावस्या। 'कोजागरी', शरद् पूर्णिमा याने आसमान के धुल जाने के बाद की पहली पूर्णिमा। ये दोनों उत्सव मनाने का उद्देश्य आकाश-दर्शन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराना ही है। इसलिए अगर दीवाली में दीपक लगाने हों, तो नक्षत्रों के आकार के, छोटे-बड़े, तरह-तरह की छटा दिखानेवाले ही दीपक लगाने चाहिए।

व्यवर्तक चित्रकला

किसी भी वस्तु के सामान्य और विशेष धर्म चित्रकला द्वारा प्रकट होने चाहिए। सामान्य-विशेष के पेट में ही गौण

और मुख्य का भेद भी आ जाता है। मनुष्य का चेहरा ऐसा भाग है कि केवल उतना ही चित्रित किया जाय, तो आदमी पहचाना जा सकेगा। अगर हाथी दिखाना हो, तो केवल सूँड़ चित्रित कर देने पर भी काम चल जाता है। इसीको शास्त्र में "व्यावर्तक व्याख्या" कहते हैं। व्यावर्तक का अर्थ है : दूसरी वस्तुओं से उस वस्तु को अलग करनेवाला। उन्होंने बैल की ऐसी व्याख्या की है : "विषाण कुकुभ्याम्"—सींग और डीलवाला। अब आप दुनिया में चाहे चितने जीव ढूँढ़ डालिये, सींग और डील-युक्त प्राणी सिवा बैल के दूसरा कोई नहीं दीखेगा।

स्मृति के आधार पर चित्रकला

दूसरी बात है, 'मेमरी ड्रॉइंग' की। यदि कोई चीज कहीं देख लें, तो बाद में उसे ठीक चित्रित कर लेना आना चाहिए। देखे हुए यंत्र, देखी हुई इमारत या दी हुई चीज का चित्र खींचना आना चाहिए।

सृष्टि में कहीं-कहीं दृष्टिभ्रम होता है, उसे भी चित्र में ठीक-ठीक प्रकट कर दिखाना चाहिए। रेल्वे लाइनों का चित्र बनाना हो, तो सिर्फ सीधी और समानान्तर लम्बी-लम्बी दो पटरियाँ बना देने से काम न चलेगा। हमें वे जैसी दीखती हैं, उसी तरह चित्रित करना चाहिए कि आगे चलकर दोनों पास-पास आकर मिली हुई जान पड़ती हैं। इसी तरह दो नक्षत्रों के बीच उनके उगते, समय अधिक अन्तर दीख पड़ता है और सिर पर आने पर वह अन्तर कम हो जाता है। सूर्य की भी यही बात है। वह उगते समय बड़ा दीखता और फिर छोटा होने लगता

है। अस्त के समय पुनः बड़ा दीखता है। ये ही सब चमत्कार सृष्टि में दिखाई पड़ते हैं, पर ये सब चित्र में प्रकट होने चाहिए।

सांकेतिक चित्रकला

छात्रों को सांकेतिक चित्रकला भी आनी चाहिए। मान लीजिये, हम लोग किसी बगीचे में गये, तो वहाँ सभी पेड़ व्यवस्थित रूप से बाकायदा लगाये दीखते हैं। उनकी शाखाएँ आदि छँटी होती हैं। उन्हें देखकर हमें आनन्द होता है। उसी तरह जंगल में जायँ, तो वहाँ तरह-तरह के ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े बेतरतीब वृक्षादिकों की शोभा, वहाँ की निसर्ग रमणीयता देखकर भी आनन्द होता है। प्रश्न होता है कि यह कैसे? व्यवस्थित उद्यान की शोभा देखकर आनन्द और निरंकुश वनश्री भी देखकर आनन्द! आखिर दोनों से आनन्द क्यों? इसका कारण यह है कि उद्यान में ईश्वर की व्यवस्थितता का गुण प्रकट हुआ है और वन में ईश्वर की स्वच्छता का गुण प्रकट हुआ है। चित्रकार की दृष्टि में यह बात आनी चाहिए।

पाश्चात्यों ने न्याय-देवता का सांकेतिक चित्र इस रूप में दिखाया है कि एक अंधी स्त्री तराजू की डांड़ी पकड़कर बैठी हुई है। अब यदि कोई पूछे कि क्यों जी, क्या न्याय-देवता को अन्धी के ही रूप में होना चाहिए? न्यायाधीश को स्त्री ही क्यों बनाया? पुरुष बनाने से क्या काम नहीं चल सकता था? और तराजू की डाँड़ी यदि पहले से ही सीधी पकड़ी हुई दिखाई गयी, तो न्यायाधीश की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?

न्याय-देवता को अन्धी के रूप में दिखाने का संकेत यह है कि अन्धा आदमी छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं देखता। वह निष्पक्ष रहेगा। अतः यहाँ अन्धेपन का अर्थ है, पक्षपातशून्यता। न्याय-देवता को स्त्री-रूप देने का संकेत यह है कि स्त्रियाँ स्वभावतः दयालु होती हैं। इसलिए न्याय देते समय भी दयालुता रहनी चाहिए। तराजू की डाँड़ी सीधी पकड़ने का संकेत यह है कि न्याय में चोखापन होना चाहिए। इस तरह इस सांकेतिक चित्र में न्याय के आवश्यक तीन मुद्दे (१) निष्पक्षता, (२) दयालुता और (३) खरापन दिखाये गये हैं।

दत्तात्रेय के तीन मुख हैं। तीनों मुखों को एक स दिखाने की चाल है। किन्तु उनमें बीच का मुख सात्त्विक याने बिलकुल साफ-सुथरा, सुन्दर, स्वच्छ; दूसरा तामस याने मैला-कुचैला, नींद से भरा और तीसरा उत्साह, आवेश और पराक्रम से पूर्ण रजोगुणयुक्त होना चाहिए। तभी वह उनका सच्चा चित्र बनेगा और इन तीन मुखों के तीन गुणों का संकेत प्रकट होगा। हिन्दुओं की मूर्तिपूजा में सांकेतिक चित्रकला भरी पड़ी है।

कहीं उत्सव-समारोह हो, तो स्वागत के लिए मिट्टी का घड़ा जल से ऊपर तक भरकर रखा जाता है। उसे पूर्णकुंभ कहते हैं। आखिर वह किसलिए? इसीलिए कि स्वागत के लिए हृदय प्रेम से परिपूर्ण है, इस बात का उसमें संकेत है। घड़ा चाहे मिट्टी का हो, चाहे सोने का; पर अन्य किसी धातु का नहीं। सोने के घड़े से वैभव व्यक्त होता है। याने स्वागत में अपना वैराग्य या वैभव प्रकट होना चाहिए। यही उस पूर्णकुंभ का संकेत है।

अंग्रेज लोग किसीके आने पर टोपी उतारते हैं, तो हमारे

यहाँ के लोग उसे पहन लेते हैं, आखिर ऐसा अन्तर क्यों? उनका देश ठंढा है, इसलिए वहाँ टोपी उतारने से अतिथि के लिए कुछ-न-कुछ कष्ट सहने की अपनी तैयारी दिखाना है। हमारी देश गरम है। यहाँ टोपी लगाकर हम अतिथि के लिए कष्ट सहने की तैयारी दिखाते हैं। तुलसीदासजी ने भरत-राम-मिलन के प्रसंग में बताया है कि उस समय राम धनुष-बाण आदि बिना लिये हुए वैसे ही उठकर खड़े हो गये—"कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा" कहकर इस वर्णन में राम की भरत से मिलने की आतुरता का दर्शन कराया गया है।

दुनिया में कुछ चीजें सूक्ष्म, तो कुछ विषम होती हैं। उन्हें ठीक से दिखाना भी चित्रकला का एक अंग है। सूक्ष्म की ओर विशिष्ट दृष्टि से याने मध्यभाग की ओर विशेष ध्यान देते हुए देखना पड़ता है। लपेटा दोनों बाजुओं से समान है याने दोनों बाजुओं से सूक्ष्म हैं, चौरस चारों प्रकारों से सूक्ष्म ह। वर्तुल सब ओर से सूक्ष्म है, कारण सभी बाजुओं से उसके समान भाग किये जा सकते हैं। वस्तु की सूक्ष्मता के प्रकार बच्चों को बनाने आन चाहिए। आजकल बच्चों को कोई भी सूक्ष्म चित्र बनाना होता है, तो 'उसमें का आधा भाग देखकर बाकी उनसे बनवा लेते हैं। साधारणतः दाहिना भाग देखकर बायाँ उनसे बनवाते हैं। पर इसके विपरीत बायाँ देखकर दाहिना भी बनवा लेना चाहिए। जिस तरह हम बच्चों को दाहिने हाथ से चित्र बनाना सिखलाते हैं, उसी तरह बायें हाथ से भी चित्र बनाना सिखाना चाहिए।

—महिलाश्रम के शिक्षकों के समक्ष किया गया व्याख्यान

एक बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज में : ४५ :

(चर्चाओं के आधार पर)

[विनोबाजी ने आज एक कॉलेज का निरीक्षण किया। कताई, धुनाई, तुनाई चल रही थी। विनोबा कातने बैठ गये। व्याख्यान देने की अपेक्षा इस तरह के प्रात्यक्षिक में ही उनको अधिक रस आता है। लेकिन जब वे चलने लगे, तो लोगों ने 'उपन्यास' की माँग की। 'उपन्यास' तेलुगु में व्याख्यान को कहते हैं। विनोबाजी ने कहा : "आप लोग अपना वर्ग लीजिये, मैं देखूँगा।" ट्रेनिंग के लिए आये हुए शिक्षक-छात्रों का वह वर्ग था।

विनोबाजी ने कक्षा का निरीक्षण किया। उसमें पूनियों से गिनती सिखाने का 'अनुबंध' बताया गया था। अक्सर शिक्षक ऐसा ही करते हैं। "आप लोग पूनियों से गिनती सिखाते हैं, तो पत्थरों का ही उपयोग क्यों नहीं कर लेते? इससे पूनियाँ खराब हो जाती हैं। इस तरह का अनुबंध हास्यास्पद हो जाता है। हर बात को सिखाने के लिए मौका देना, उद्योग का केवल इतना ही काम है। बाकी सिखाना तो अपने ढंग से होना चाहिए। कातते समय अपनी-अपनी पूनियाँ गिनकर कातने को बैठना, इतना ही स्वाभाविक अनुबंध है।"

पाठ्य-पुस्तकों के बारे में उन्होंने अड़चन दिखायी। परन्तु पूछा, तो मालूम हुआ कि कृष्णदासभाई की 'कताई-गणित' किताब का इन लोगों को पता नहीं है। विनोबाजी ने कहा कि "या तो आप लोग जल्द-से-जल्द हिन्दी सीखकर इन किताबों

को हिन्दी में पढ़िये या फिर इनका अनुवाद करवा लीजिये। परन्तु बुनियादी साहित्य से अपरिचित रहकर बुनियादी तालीम का काम आप कैसे करेंगे ?"

[इसके बाद कॉलेज के शिक्षकों से चर्चा हुई। उन्होंने अपनी दिक्कतें और शंकाएँ विनोबाजी के सामने रखीं।]

प्रश्न—अनुबंध-पद्धति की कोई किताबें नहीं हैं। पढ़ायें कैसे ?

विनोबा—ठीक सवाल पूछा। पुस्तकें अनुभव से बनेंगी। लेकिन जो बन चुकी हैं, वे भी आप नहीं पढ़ते। अनुबंध-पद्धति का मुख्य सार अभी यही समझो कि जो ज्ञान उद्योग के साथ नहीं दिया जा सकता, उसका लोभ छोड़ देना है।

प्रश्न—लेकिन फिर इसमें विज्ञान की पढ़ाई कैसे होगी ?

उत्तर—जरूर होगी। लड़का खेती करेगा, कपड़ा बुनेगा, खाना खायगा, बीमार पड़ेगा, सब उसके लिए ज्ञान के साधन हैं, उसमें सारा विज्ञान आ जाता है।

प्रश्न—क्या बुनियादी योजना डाल्टन, किंडरगार्टन और मॉंटेसरी का सुधारा हुआ रूप है या कोई स्वतंत्र योजना है ?

उत्तर—बुनियादी योजना किसी योजना का सुधारा हुआ रूप नहीं है। वह स्वतंत्र और विशिष्ट योजना है। दूसरी योजनाएँ लड़कों को कोई उपजाऊ धंधा नहीं सिखातीं। नयी तालीम देश का उत्पादन बढ़ाती है, छात्र को स्वावलंबी बनाती है और ज्ञान भी देती है। यह पद्धति हमें हिन्दुस्तान की परिस्थिति में से सहज सूझी है। उद्योग द्वारा शिक्षण का विचार मान्य

करते हुए भी दूसरी पद्धतियों ने आजीविका संपादन द्वारा शिक्षण सिद्ध नहीं किया है, इतना हम देखते हैं।]

प्रश्न—क्या शिक्षकों को पुरानी पद्धतियों का ज्ञान कराना आवश्यक है?

उत्तर—आवश्यक तो नहीं है, पर उपयुक्त हो सकता है। क्या गणित सिखाने के लिए आज हम भास्कराचार्य की लीलावती पढ़ाते हैं? लेकिन लीलावती के ज्ञान से शिक्षक को ऐतिहासिक दृष्टि आ सकती है।

प्रश्न—इतिहास की पढ़ाई में कालक्रम के सिद्धांत को आप मानते हैं?

उत्तर—कालक्रम बाद में आ सकता है। पहले बच्चों को सारे विचार-प्रवाह का सर्वसामान्य ज्ञान हो जाना चाहिए।

बुनियादी तालीम में और चालू पद्धति में एक मूलभूत फर्क है, जो हमें समझ लेना चाहिए। हमें बच्चों को इतिहास, व्याकरण और गणित नहीं सिखाना है, हमें तो उन्हें जीवन सिखाना है—उन्हें कार्यक्षम बनाना है। शिवाजी क्या व्याकरण पढ़े थे? क्या शंकराचार्य ने इतिहास की किताबें पढ़ी थीं? हमें बच्चों को पुरुषार्थशील बनाना है। उसके पीछे-पीछे और सब बातें धीरे-धीरे आ जायँगी।

प्रश्न—क्या बड़े होने पर बच्चों को ये दस्तकारियाँ काम आ सकती हैं, जब देश में यंत्रीकरण हो तो?

उत्तर—आपका सवाल शैक्षणिक नहीं, आर्थिक है। इसकी बहुत चिंता नहीं करनी चाहिए। रूस में यन्त्रीकरण है, फिर भी प्राथमिक शालाओं में छोटे-छोटे उद्योगों द्वारा शिक्षण दिया जाता

है। शिक्षण बच्चे की शक्ति के विकास के लिए और शक्ति के अनुसार दिया जाता है। उस दृष्टि से हर हालत में दस्तकारियाँ याने हाथ के उद्योग ही पसंद करने पड़ते हैं।

प्रश्न—क्या श्रेणियों के अनुसार शिक्षण-क्रम आपको पसंद है?

उत्तर—पहले स्थूल ज्ञान, पीछे सूक्ष्म ज्ञान—ऐसा क्रम मुझे पसंद है। पहले इस टुकड़े का, पीछे उस टुकड़े का ज्ञान देना मुझे पसंद नहीं। आपके पाठ्यक्रम में तीसरे दर्जे में मद्रास प्रान्त और चौथे में भारत का भूगोल रखा है। पर इसी बीच यदि बिहार में भूकंप हो, तो क्या तीसरी श्रेणी के बच्चों को बिहार कहाँ है, सो नहीं बतावेंगे और मद्रास ही बताते रहेंगे?

प्रश्न—लेकिन इन बेचारे शिक्षकों में इतनी सूझ कहाँ?

उत्तर—सूझ नहीं, तो शिक्षक क्यों हुए?

प्रश्न—नयी तालीम में कविता के लिए स्थान रहेगा या नहीं?

उत्तर—यथावसर होगा। गांधी-जयंती के प्रसंग में 'वैष्णव जन' का गीत आयेगा। प्रह्लाद का तो सारा चरित्र ही कविता में सिखाया जा सकता है।

प्रश्न—नयी तालीम का माध्यम मातृभाषा होगा या देश-भाषा?

उत्तर—उसके लिए दोनों का ज्ञान अनिवार्य होगा। परन्तु पढ़ाई का माध्यम तो प्रान्त-भाषा ही होगा।

प्रश्न—आपने हर बात के लिए अवसर की आवश्यकता बतायी, लेकिन किसी प्रसंग पर विद्यार्थी गैर-हाजिर रह जाय, तो फिर वह उस शिक्षण से वंचित ही रह जायगा?

उत्तर—सात-आठ बरसों की अवधि में ऐसा कौन-सा प्रसंग होगा, जो एक से अधिक बार नहीं आवेगा ?

[कोमारवोलु आश्रम में छोटी-छोटी लड़कियाँ मिलने आयीं, जो हिन्दी बिल्कुल ही नहीं जानती थीं, तो आध घण्टा वे उनसे बोलते रहे। उन्हें उतनी देर में हिन्दी में दस तक अंक गिनना, अपना नाम बताना तथा दूसरों का नाम पूछना सिखा दिया।]

वीरवर्म में विनोबा से एक प्रश्न पूछा गया कि "जिस गति से आज नयी तालीम चल रही है, उस गति से क्या आप मानते हैं कि वह प्रलयकाल तक भी पूरी हो सकती है ?"

विनोबा ने उत्तर दिया : इस प्रश्न के पीछे मन की एक भूमिका है कि सरकार द्वारा ही व्यापक काम हो सकता है। मैं भी मानता हूँ कि सरकार द्वारा व्यापक काम होगा। लेकिन सारा-का-सारा शिक्षण सरकार को सौंप देने की मेरी तैयारी नहीं है। फिर तो सरकारी शाला एक साँचा बन जायगी। स्वतंत्र बेसिक शाला चलाने का प्रयोग होना चाहिए। मुझे नम्रतापूर्वक आपसे कहना चाहिए कि अपनी कल्पना का बेसिक स्कूल मैंने अब तक एक भी नहीं देखा। मैं नयी तालीम का शास्त्र अच्छी तरह जानता हूँ, फिर भी मैं उसका स्कूल नहीं चलाता, घूमता रहता हूँ। यही हाल दूसरों का है। फिर यह काम कैसे होगा ? जो लोग इस काम को अच्छी तरह जानते हैं, वे इसे ही लेकर बैठ जायेंगे और बेसिक की आदर्श पाठशाला चलायेंगे, तभी नयी तालीम का सही दर्शन हो सकेगा। अपने बारे में तो मैं यही कहूँगा कि मैंने इसका कुछ प्रयोग किया है और उसका नतीजा

भी समाधानकारी हुआ है, लेकिन वह प्रयोग छोटे बच्चों की बुनियादी तालीम का नहीं था। उसे उत्तर बुनियादी प्रयोग कह सकते हैं। उसमें जो लड़के तैयार हुए, वे ही आज मेरे साथ काम कर रहे हैं।

जब इस बार मैं जेल से छूटा, तो मैंने सोचा था कि मेरा शायद अब एक ही काम बचा है। वह काम था, बुनियादी शिक्षण का। लेकिन भगवान् की इच्छा कुछ और ही थी। परन्तु अगर फिर से कभी स्थिर होने का योग आया, तो मैं पुनः जरूर इस बुनियादी तालीम के काम में ही लग जाना चाहूँगा। अभी मैं कुमारवेलु गया, तो आधा घण्टा मैंने लड़कियों को पढ़ाया। उसमें मैं इतना मग्न हो गया कि मुझे समय का भान ही नहीं रहा। दूसरे काम के लिए लोग मुझे ले गये और वर्ग बन्द करना पड़ा।

यदि आप लोगों में कोई शिक्षण के प्रेमी हों, तो वे अपना जीवन इस काम के लिए दें। हमें तो यह साबित करना है कि बुनियादी मदरसा कम-से-कम सहायता से चलता है। अगर मैं बेसिक स्कूल चलाऊँ, तो मकानों और साधनों को छोड़कर सारा-का-सारा पैसा वापस कर दूँगा। हमारे मदरसे के बच्चे दूसरे मदरसों के बच्चों की अपेक्षा अधिक ज्ञानसंपन्न और अधिक प्राण-संपन्न निकलेंगे। ऐसा अगर एक भी स्कूल हम चलाकर दिखा सकें, तो उसे देखने के लिए दुनियाभर से लोग वहाँ आवेंगे। जिन्होंने शिक्षण के प्रयोग किये, उन्होंने पाँच-पचास विद्यार्थी लेकर ही प्रयोग किये थे और दुनिया ने उनकी पद्धति को स्वीकार किया। ...

पूर्व-बुनियादी की चर्चा : ४६ :

[बम्बई के शिशु-विहार-गृह के कुछ शिक्षक और विद्यार्थी हर साल सैर के लिए जाते हैं। इस बार वे वर्धा, सेवाग्राम, पवनार देखने आये थे। बालवाड़ी के सम्बन्ध में उनसे निम्नलिखित चर्चा हुई।]

प्रश्न—आज हमने जो शिक्षण-पद्धति सेवाग्राम में देखी, वह देहातों के लिए ठीक है। शहरों के बच्चों के लिए आप उसमें क्या परिवर्तन सुझायेंगे?

विनोबा—आपको कौनसा परिवर्तन आवश्यक लगता है? शहर और गाँव में क्या फर्क है? दोनों जगह वे ही चाँद-सूरज हैं, माता-पिता का वातावरण भी वैसा ही है। एक जगह दीया है दूसरी जगह बिजली! बाकी खास फर्क क्या है?

प्रश्न—शहर में यान्त्रिक वातावरण है।

विनोबा—उसमें क्या फर्क है? एक बालक मोटर में बैठता है, एक बैलगाड़ी में। एक पेट्रोल और इंजन के बारे में जानकारी प्राप्त करेगा, दूसरा चक्के और बैल के बारे में। आखिर मुख्य बात यही है कि आसपास जो वातावरण होगा, उसके जरिये बालकों का विकास होगा और फिर देहात-देहात में भी तो फर्क होता ही है। यहाँ का बालक ज्वार का खेत देखता है, कोंकण का बालक धान का खेत देखता है। इसी तरह शहर और देहात के फर्क की ओर देखना चाहिए।

प्रश्न—देहात का लड़का स्वावलंबी होगा, शहरवाला नहीं होगा।

विनोबा---क्यों नहीं होगा ? मान लीजिये कि शहर में एक हॉटेल है। वहाँ रसोई के जरिये बालक को शिक्षण दिया जाता है। हमारा उसूल तो यही है न कि आसपास के वातावरण से ज्ञान देना है। शहर और देहात, दोनों के लिए यह सिद्धान्त समान रूप से लागू है। देहात में भोजन लकड़ी पर पकेगा, तो शहर में कोयले पर। इससे तालीम में क्या फर्क पड़ा ?

प्रश्न---बहुत छोटे बच्चों के काम का प्रारंभ शहरों में कैसे किया जाय ?

विनोबा---हमें तो उसमें कोई दिक्कत नजर नहीं आती। दोनों जगह पानी, हवा, प्रकाश है। इंद्रियों का सम्बन्ध भी वैसा ही है। चढना-उतरना दोनों जगह समान है। एक जगह लड़का टेकड़ी पर चढ़ेगा, तो दूसरी जगह चौथी मंजिल पर। इतना ही फर्क है न ?

प्रश्न---दोनों की भूमिका एक-सी कैसे मानी जाय ?

विनोबा---अगर आपने दोनों को भलाई सिखायी है, तो वहाँ शहर और गाँव की भूमिका एक ही है, दोनों का वहाँ मेल है। भूखे के लिए रोटी मुहैया करा देने की विद्या दोनों जगह समान मिलनी चाहिए। अगर तालीम ऐसी मिले कि देहात-वाले तो श्रम की कद्र करते हैं और शहरवाले उसके बारे में लापरवाह रहते हैं, तो समझना चाहिए कि यहाँ दोनों का रास्ता भिन्न हो रहा है।

प्रश्न---आप तो गाँववालों को चरखा चलाने की बात कहते हैं, जो शहरवालों की समझ में ही नहीं आती।

विनोबा—तो मैं शहरवालों को क्यों कहूँगा? उस गाँव-वालों को तो कपड़ा पहनना है, इसलिए कहता हूँ कि कातो!

प्रश्न—कपड़ा तो हमें भी पहनना है न?

विनोबा—फिर आपको भी कातना चाहिए।

प्रश्न—बाल-शिक्षण में आजकल भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ चल रही हैं। आप कौनसी ठीक समझते हैं?

विनोबा—आपको किन-किन पद्धतियों की जानकारी है?

प्रश्न—सेवाग्राम में तो नयी तालीम चल रही है। बम्बई में मॉटेसरी-पद्धति चलती है, कहीं-कहीं किंडर गार्टन भी चलती है।

विनोबा—इन सबमें क्या फर्क है, हमें समझाइये।

प्रश्न—आपको सब मालूम है।

विनोबा—हम तो यही जानते हैं कि एक सेवाग्राम-पद्धति है, एक पवनार-पद्धति है, एक वर्धा-पद्धति है, एक नागपुर-पद्धति है इत्यादि।

प्रश्न—हमारी पद्धति में प्रश्न पूछना मना है और आपने तो अभी प्रार्थना में बालकों से प्रश्न पूछ-पूछकर उन्हें सहज ही ज्ञान करा दिया!

विनोबा—तो आपको एक और पद्धति मालूम हुई, प्रश्न पूछने की। आपने देखा कि प्रश्न पूछने की भी एक पद्धति होती है, उसमें भी एक खूबी होती है।

प्रश्न—बच्चों के लिए किंडरगार्टनवाले अनेक प्रकार के आकर्षण उत्पन्न करते हैं।

विनोबा—क्या आप लोग आकर्षण नहीं उत्पन्न करातीं?

प्रश्न—पर वे कृत्रिम आकर्षण निर्माण करते हैं।

विनोबा—अब 'कृत्रिम' शब्द आया! अच्छा बताइये, आप लोग बच्चों को मिठाई बाँटती हैं या नहीं?

प्रश्न—जी हाँ, बाँटती हैं। पर हम शिक्षण के लिए मिठाई नहीं बाँटतीं।

विनोबा—क्यों नहीं बाँटतीं? जो चीज सामने हो, उसके द्वारा शिक्षण देना चाहिए।

प्रश्न—हमारे कहने का मतलब यह था कि हम बच्चों को लालच नहीं दिखातीं।

विनोबा—इसमें बुद्धि की कुशलता का सवाल है। शिक्षण-पद्धति में साधारणतया कोई खास फर्क नहीं होता। परिस्थिति-भेद के अनुसार वस्तु-दर्शन का भेद हो जाता है। लालच के लिए किसी तरह का वातावरण निर्माण करने या कोई चीज देने की बात तो वे भी नहीं कहेंगे।

प्रश्न—जिस तरह हमारे यहाँ के या सेवाग्राम के बालक आजादी से अपना विकास साधते हुए दिखाई देते हैं, किंडर-गार्टन-पद्धति में वैसे नहीं दिखाई देते।

विनोबा—लेकिन अगर किंडरगार्टनवालों से आप पूछें, तो वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे।

प्रश्न—हमारे यहाँ इन्द्रिय-विकास (सेंस-डेवलपमेंट) का जो तन्त्र है, उससे सेवाग्राम का तन्त्र कुछ भिन्न है। हमें अपने यहाँ का क्रम अधिक शास्त्रीय मालूम होता है। साधन जितने व्यवस्थित होंगे, उतना ही विकास ठीक होगा। लेकिन ऐसे शास्त्रीय साधनों का विदेशी के नाम पर निषेध किया जाता है।

विनोबा—तो क्या छोटे बच्चों के शिक्षण के लिए विदेशी साधनों की जरूरत पड़ती है ?

प्रश्न—साधन विदेशी नहीं, लेकिन कल्पना विदेशी है।

विनोबा—कल्पना भी कभी विदेशी-स्वदेशी होती है ? हमें एक बात का खयाल करना चाहिए कि अगर वातावरण में कुछ साधन सहज ही में उपलब्ध हों, तो शास्त्रीयता के नाम पर दूसरे कृत्रिम साधनों की आवश्यकता महसूस न होनी चाहिए। जिस गाँव में नदी है, वहाँ तैरने की कला द्वारा बालकों का विकास क्यों नहीं सध सकना चाहिए ? क्या इन्द्रिय-विकास के लिए देहातों का स्वाभाविक वातावरण अनुकूल नहीं है ? क्या गोबर चुनना और बेर बटोरना आदि साधन नहीं माने जायेंगे ? क्या इन उद्योगों से ज्ञान नहीं दिया जा सकेगा ?

प्रश्न—उनसे हमारा विरोध नहीं है। पर कुछ साधनों के लिए हमारा आग्रह है। उन पर जोर देने से बालक आगे संसार में ज्यादा अच्छा काम करेगा।

विनोबा—मैं आपसे एक ही सवाल पूछता हूँ। साधनहीन किसी गाँव में आपको भेज दें, तो आप काम कर सकेंगी या नहीं ?

एक बहन ने कहा : हाँ, कर सकेंगी।

विनोबा—फिर मुझे कुछ कहना नहीं है। हर प्रकार के ज्ञान का आज ही परिचय करा देना चाहिए, इसकी कोई जरूरत नहीं। जो ज्ञान हम बच्चों को देना चाहते हैं, वह हम चाहते हैं इसलिए नहीं, बल्कि बच्चों को उसकी जरूरत है, इसलिए देते हैं। आँख के लिए बच्चों को प्रकाश की जरूरत है, जीभ के लिए स्वाद की, कान के लिए स्वर की। इस तरह आव-

श्यकताओं के अनुसार आवश्यक ज्ञान दिया जा सकता है।

प्रश्न—लेकिन सूक्ष्म ज्ञान के लिए शास्त्रीय साधनों का प्रयोजन है।

विनोबा—ठीक है, लेकिन शास्त्रीय साधनों के नाम पर कृत्रिमता न प्रवेश कर जाय, इस पर हमें ध्यान देना चाहिए। हार्मोनियम से स्वर का सूक्ष्म ज्ञान हो सकता है, ऐसा दावा कोई नहीं कर सकता। फिर भी हार्मोनियम चल रहा है। जिसे शक्कर के बिना दूध पीने की आदत नहीं है, वह दूध का सच्चा स्वाद कैसे जानेगा? इसलिए स्वाद की दृष्टि से चीजें मूल स्वरूप में ही खानी चाहिए। इस तरह आप सोचेंगे, तो सारा सवाल हल हो जायगा।

इन्द्रिय-विकास तो जानवरों का भी होता है। क्या उन्हें माँटेसरी सिखाने जाती है? शेर का एक विशिष्ट इन्द्रिय-विकास हुआ रहता है। वह और जानवरों में कम होता है। उसकी घ्राणेन्द्रिय अधिक तीव्र होती है। आपको दिखाई पड़ेगा कि परिस्थिति जितनी विषम होती है, इन्द्रियों का विकास उतना ही अधिक होता है। इसलिए इन्द्रिय-विकास की शक्ति कोई बड़ी बात नहीं है। नैसर्गिक जीवन से वह सहज सधती है। शिक्षण के लिहाज से आवश्यक और बड़ी बात है, इन्द्रियों की अभिरुचि परिशुद्ध बनाने की। कृत्रिम जीवन से इन्द्रियाँ परिशुद्ध नहीं होतीं, बिगड़ती ही हैं। यह बिगड़ने का काम शहर और देहात दोनों जगह चालू है। खाने-पीने में मसालों का प्रयोग दोनों जगह होता है। ऐसी और भी मिसालें दी जा सकती हैं।

प्रश्न—मसाले भी कुदरत ने ही बनाये हैं।

विनोबा—कुदरत ने तो गोबर भी बनाया है, पर कोई गोबर नहीं खाता! उसी तरह कोई बच्चा अपनी इच्छा से मिर्च नहीं खाता, पर मीठा फल वह सहज खा लेता है।

योग्यायोग्यता और इन्द्रिय-शक्ति-विकास अलग चीज नहीं हैं। ...

नयी तालीम और स्वावलम्बन : ४७ :

(पत्रों में से)

वेड़छी से श्री नारायण देसाई लिखते हैं:

"मैं पवनार आया, तब आपसे स्वावलंबन के संबंध में प्रवाह-पतित बातें हुई थीं। स्वावलंबन, साधन-संशोधन, समवाय तथा नयी तालीम की जीवन-दृष्टि के बारे में हमेशा चिंतन चलता ही रहता है। आप वेड़छी आये थे, तब भी कुछ बातें हुई थीं।"

बापू का विचार तो ऐसा जान पड़ता है कि रुपये-आने-पाई में शिक्षा का चालू खर्च विद्यार्थियों के उपार्जन से निकल जाना चाहिए। आज की अर्थनीति शरीरश्रम का मूल्यांकन बहुत कम करती है और आवश्यकता की अपेक्षा विलास-सामग्री में अधिक पैसे देती है। फिर भी आज की स्थिति को लेकर ही अपने उद्योग से ही अगर हम शिक्षा का खर्च निकाल सकेंगे, तभी हम टिक सकेंगे, वरना नहीं, ऐसा स्पष्ट दीखता है।

कई किस्म के हिसाब करने के बाद ऐसा जान पड़ता है कि

प्रति ३० विद्यार्थी पर १ शिक्षक हो। उसे सामान्य शिक्षक के जितना वेतन मिले। प्रत्येक विद्यार्थी ३ घंटे काम करता हो। आप लोगों ने 'जाकिर हुसेन समिति' म ३ घंटे २० मिनट माने हैं। छोटे बच्चों के लिए यह अधिक होगा, ऐसा मेरा अनुभव है। इसलिए बड़ों का कुछ ज्यादा समय और छोटों का कम समझ-कर औसत ३ घण्टे माने हैं। और आम स्कूलों में औसत जितने दिन हाजिरी रहती है, उतनी हाजिरी मानें (साल में काम के दिन २४० और औसत हाजिरी ७५%, इस हिसाब से प्रत्यक्ष काम के केवल १८० दिन हुए), तो वस्त्र-विद्या से पूर्ण स्वावलंबन करने में निम्न कठिनाइयाँ आती हैं :

(१) पूनी बनाने में बहुत समय लग जाता है। तुनाई से पूनी करनी हो, तो काफी समय लगता है।

(२) दुबटा करने में काफी समय लगता है। कताई के साथ-साथ दुबटा करने की क्रिया अभी काफी अटपटी है और छोटे बच्चे उसे सँभाल नहीं सकते, इसलिए कातने के बाद सूत को अलग दुबटा करना पड़ता है।

(३) खादी बिकने का प्रश्न। इस प्रश्न पर 'जाकिर हुसेन समिति' ने सोचा है। सरकार ही उसे खरीदे, ऐसा आपका मत है। हम लोगों की खादी कोई बुरी नहीं होती। खासी अच्छी बनती है, लेकिन शुरू के बुननेवाले दुबटा और छोटे अरज का ही कपड़ा बुन सकते हैं, इसलिए किस्म-किस्म की खादी नहीं बन सकती। एक ही प्रकार की बनती है। इसलिए उसे सरकार क सिवा दूसर को बचना आसान नहीं है।

हम लोग तो बच्चों को खादी दे देते हैं, अतः हमारे लिए पहले दो प्रश्न ज्यादा महत्त्व के हैं :

(१) धुनकी दाखिल करें ?

(२) अनेक रीलों के दुबटने का यंत्र दाखिल करें ?

रुपये-आने-पाई में खेती वगैरह दूसरे कामों से मजदूरी काफी मिल जाती है, लेकिन वैसे काम देहातों में पूरे समय के लिए सब बच्चों को मिल नहीं सकते।

पत्र का उत्तर

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे प्रश्नों का पहले उत्तर देता हूँ।

अनेक रीलों के दुबटने के साधन का उपयोग कर सकते हैं। लेकिन धनुष-तुनाई छोड़कर ताँत दाखिल नहीं करनी चाहिए।

पैसे के हिसाब में नहीं पड़ना चाहिए। पैसा किस तरह बदमाशी करता है, उसकी एक मिसाल इस महीने की 'सर्वोदय-दृष्टि'[१] में दी है।

नयी तालीम की शाला कताई से शिक्षक और विद्यार्थियों के कपड़े की अपेक्षा रखेगी। अन्न के लिए भूमि का आधार रहेगा। पानी कुएँ से मिलेगा। कुएँ से कपड़ा, कताई से रोटी और खेती से पानी प्राप्त करने की आशा नहीं रखनी चाहिए। मैंने तो नयी तालीम के शिक्षक को सर्वतंत्र-स्वतंत्र बना दिया है। बने-

---

[१] सितम्बर '५० के 'सर्वोदय' में प्रकाशित 'सर्वोदय की दृष्टि' स्तम्भ में 'पैसे की करामात', पृष्ठ १११।

बनाये किसी पाठ्यक्रम का बंधन उसे स्वीकार करने की जरूरत नहीं।

साल में काम के दिन भगवान् ने मेरे लिए तीन सौ पैंसठ दिये हैं। जितने दिन खाने के, उतने दिन काम के—यह भी गलत सूत्र होगा, क्योंकि खाना हम छोड़ भी सकते हैं, लेकिन कर्मयोग छोड़ने का शरीरधारी के लिए प्रसंग ही नहीं है। कर्म करते-करते १०० साल जीना है। कर्म में से व्यायाम, कर्म में से ज्ञान, कर्म में से आनंद, कर्म ही यह सब, कर्म ही खेल। यह है समवाय।

स्कूल तो दिन में, रात में, उष:काल में और सायंकाल में, हर समय चलेगा। तब स्वावलंबनयुक्त शिक्षण-प्रक्रिया कैसी होती है, इसका अनुभव आयगा। मेरे पास विद्यार्थी इसी तरह सीखे। मेरा निज का शिक्षण भी पिछले ३४ साल से इसी तरह चल रहा है। एक भी दिन कर्म-शून्य नहीं जाता और हर रोज ज्ञान की नयी-नयी शाखाएँ खुलती ही जाती हैं। ...

नयी तालीम के फुफ्फुस : ४८ :

(एक पत्र से)

शिक्षक विद्यार्थी-परायण, विद्यार्थी शिक्षक-परायण, दोनों ज्ञान-परायण और ज्ञान सेवा-परायण, हमारी पाठशाला की यही योजना होगी। हम नये समाज के निर्माण की शिक्षा दें। प्रचलित शिक्षा दने क लिए अन्य अनेक पाठशालाएँ समर्थ हैं।

अपने बाल-बच्चे और तत्सम दूसरे भी, यही हमारा क्षेत्र ह। अपने बाल-बच्चे सहित हम स्वावलम्बी होते ही हैं। मुझे कभी भी स्वावलम्बन की पहेली प्रतीत नहीं हुई। तुल्य वेतन तो सर्वोदय-समाज की नींव ही है।

पुरुषार्थ-हीनता का दोष पाश्चात्य देशों की शिक्षा में नहीं है। पर उतने से ही नयी तालीम नहीं हो जाती। लुटेरे भी पुरुषार्थी होते ही हैं। अगर साम्ययोग और स्वावलम्बन, ये दो गुण हमारी शिक्षा में न हों, तो हमारी शिक्षा के दोनों फुफ्फुस ही नष्ट हुए समझिये। ...

पाठशाला की खादी : ४६ :

जाजूजी की शंका

श्री जाजूजी लिखते हैं कि "तारीख ३०-१-'४९ से तारीख ११-२-'४९ तक सेवाग्राम में छात्रों ने लगातार दिनभर कताई-बुनाई का काम किया। उसका परिणाम इस तरह प्रकट हुआ है : २४१० घंटों के काम म ८० वर्गगज कपड़ा तैयार हुआ। उसका मूल्य १४१॥।-)। हुआ। उसमें से कच्चे माल की लागत ४३॥।=) बाद किये जायँ, तो श्रम की आय ९७॥।≡)। हुई है अर्थात् एक घंटे की आमदनी ८ पाई पड़ी। काम घटिया हुआ, उसकी कटौती बाद की जाय, तो भी एक घंटे की आमदनी कम-से-कम छह पाई गिन लेनी चाहिए। अगर किसी विद्यालय के एक सौ बालक रोज दो घंटे कताई-बुनाई का काम करें, तो एक

दिन की आमदनी सवा छह रुपये होगी। महीने में काम के दिन २४ रखे जायँ, तो माहवार आमदनी १५०) हो सकती है। इससे ऊपर के तीन दर्जों के तीन शिक्षकों के वेतन का खर्च निकल सकता है।

ऊपर के हिसाब में कताई-बुनाई की दर चरखा-संघ द्वारा नियत की हुई रखी गयी है। खादी की दृष्टि से यह ठीक भी है। पर मामूली कपड़े की बाजार की कीमत से उसका मेल नहीं बैठेगा। ऊपर के हिसाब में ८० वर्गगज खादी का मूल्य १४१।।।-)। रखा गया है। पर उतने ही मिल के कपड़े का मूल्य करीब ४०-५० रुपये ही होगा। कच्चे माल की लागत ४३।।।=) बाद कर दी जाय तो आमदनी नाममात्र की रह जाती है या घाटा भी रहना संभव है। तो सोचने की बात हो जाती है कि मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में जहाँ अध्यापकों का वेतन नगदी में देना पड़ता है, क्या खादी की विशिष्ट दरों के भरोसे किया हुआ हिसाब ठीक होगा? अगर इस खादी का उपयोग छात्रों और अध्यापकों के कपड़े के लिए कर लिया जाता है, तो उससे शाला के चालू खर्च में मदद कैसे मिलेगी?

अभी बुनियादी शिक्षा की शालाएँ बहुत कम हैं। उनमें बनी हुई खादी बिक जाना आज तो मुश्किल नहीं है। पर यह बुनियादी शिक्षा व्यापक करनी है और लाखों शालाओं में चलनेवाली है, तो फिर उतनी सब खादी कैसे बिक सकेगी? आज की आर्थिक व्यवस्था ग्रामोद्योगों के अनुकूल हो जाय, तो कठिनाई नहीं रहती। पर यदि ऐसा हो तो?

बुनियादी शालाओं में तैयार की गयी खादी यदि सरकारी

शिक्षा-विभाग ने खरीदी, तो कपड़े पर होनेवाला सरकार का खर्च बढ़ जायगा। सरकार यदि उस खादी को बाजार में बेचेगी, तो वह बाजार के भाव से बिकेगी और उसमें सरकार को नुकसान होगा। एक तरफ स्कूलों के खाते में आमदनी दिखाई जायगी और दूसरी तरफ सरकारी खाते में उतना ज्यादा खर्च दिखाया जायगा।

इसलिए मुझे लगता है कि शाला में कताई-बुनाई मूल दस्तकारी होने की दशा में हम उसकी आमदनी रुपयों में न गिन-कर कितने हाथ सूत और कितनी खादी तैयार हुई, यह बताकर सन्तोष मान लें, तो अच्छा होगा।"

पुरुषार्थ से परिस्थिति बदलती है

श्री जाजूजी का यह लेख लम्बा है, पर उसकी मुख्य बातें यहाँ दे दी गयी हैं। विचारों की सफाई के खयाल से उन्होंने यह लिखा है और उसी दृष्टि से उसे ग्रहण करना चाहिए। लेकिन उसमें कोई नयी बात मुझे नहीं मिली। कताई-बुनाई से शाला का खर्च चलाने की बात खादी की विशिष्ट दरों पर आधार रखती है और इसलिए वह काल्पनिक हो जाती है, इस तरह का आक्षेप आज से बारह साल पहले, जब नयी तालीम की योजना बन रही थी, प्रो० के० टी० शाह ने उपस्थित किया था। उस आक्षेप का उत्तर भी दिया गया था। यहाँ काल्पनिक और वास्तविक में सिर्फ पुरुषार्थ का अंतर है। याने जो चीज आज काल्पनिक जान पड़ती है, वही पुरुषार्थ से कल वास्तविक सृष्टि में आ सकती है, वैसा कुछ पुरुषार्थ चरखा-संघ ने किया, जिससे

खादी का एक बाजार स्थिर हो गया। वह अभी सीमित है, क्योंकि पुरुषार्थ सीमित है। इस सीमित को असीम में पलटाने का काम नयी तालीम के जरिये होने का है ।

चेतना का विषय

नयी तालीम हमारी फच्चर है और अहिंसा याने स्वराज्य-सत्ता हथौड़ी है । दोनों के योग से चालू अनर्थकरी अव्यवस्था टूट जायगी और समुचित आर्थिक व्यवस्था स्थापित होगी। लाखों स्कूल खादी पैदा करने लगेंगे, तो उस खादी का क्या होगा, इसकी चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि तब तो क्रांति भी हुई रहेगी। ऐसी ही क्रान्ति हमें करनी है। इसलिए हमारे लिए यह चिंता का नहीं, चेतना का विषय है।

अप्रतिष्ठित रुपये से भ्रान्ति

हम चरखा-संघ की खादी की दरों से बुनियादी शाला की उत्पत्ति के आँकड़े देते हैं, यह बात किसीसे छिपी नहीं है और इसलिए उससे कोई गलतफहमी का कारण नहीं है। वैसे उत्पत्ति रुपयों में बताना निरर्थक है, इसलिए नहीं कि खादी की दरें अप्रतिष्ठित हैं, लेकिन इसलिए कि रुपया ही अप्रतिष्ठित है। रुपये की अप्रतिष्ठा अब इतनी जाहिर हो चुकी है कि उसका अधिक विवरण देने की जरूरत नहीं। फिर भी भ्रान्त दुनिया के उपयोग के लिए भ्रांति का अवलंब किया जाता है। स्वप्न में व्याधि हो, तो स्वप्न में ही उसके लिए उपचार होता है। जाग जाने पर न व्याधि रहती है, न उपचार ।

सत्य के दर्शन हों

अगर शाला की पैदावार का उपयोग सरकार अपनी गरज के लिए करेगी, तो शिक्षा-विभाग में कुछ आय दीखेगी और अन्य विभागों में व्यय दीखेगा, ऐसा कहा गया है। मैं कहता हूँ कि ऐसा ही होना चाहिए। अगर शिक्षा-विभाग ने कमाई की है, तो उसके नाम पर वह जरूर दीखनी चाहिए और दूसरे विभाग, जो जनता पर भाररूप हैं, वे भी वैसे स्पष्ट दीख पड़ने चाहिए। जिसकी जो जिम्मेवारी है, उसको वह उठानी चाहिए। तभी सत्य की रक्षा होगी।

—'सर्वोदय', अक्तूबर १९४९

धर्म-शिक्षा की व्याख्या : ५० :

एक प्रश्न

श्री आपटे गुरुजी लिखते हैं : "यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है कि छोटे बच्चों के लिए पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा कैसे दी जाय? बहुत-से लोगों को इसकी उपयुक्त कल्पना नहीं है। अवश्य ही इस विषय में सभी एकमत हैं कि सन्तों के वचन कण्ठस्थ कराये जायँ, पर प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में धार्मिक शिक्षा का रूप कैसा हो, इस बारे में स्पष्टीकरण होना चाहिए। वह सूत्ररूप में हो, तो भी चल सकता है।"

धर्म-शिक्षा की सच्ची योजना

निस्संदेह धार्मिक शिक्षा दिलचस्पी का विषय है। पर आज 'धर्म' शब्द का अर्थ बड़ा ही संकुचित और समाज-भंजक बन गया है। यही कारण है कि विचारशील लोगों का सुझाव पाठशालाओं में धर्म-शिक्षा न देने की ओर ही है। मेरी दृष्टि से सच्ची धर्म-शिक्षा साहित्य का विषय ही नहीं है। चरित्र-निष्ठा, ईश्वर-विषयक श्रद्धा और देह से पृथक् आत्मा का भान, यही धर्म का सार है और वह सत्पुरुषों की संगति से ही मिलता है। इसलिए सुशील शिक्षकों की योजना ही मेरी धर्म-शिक्षा की योजना है।

सन्त-वाङ्मय का अर्थ

सन्तों के वचनों का कण्ठस्थ रहना लाभदायक तो है ही, पर उसे मैं धर्म-शिक्षण नहीं कहूँगा। उसे तो विशुद्ध वाङ्मय का शिक्षण ही कहूँगा। उसमें भी चुनाव करते समय व्यापक विवेक आवश्यक होगा। 'प्रार्थनासंबंधी विवेक' मैंने पीछे बता ही दिया है, यहाँ भी वही लागू होगा।

सर्व-धर्म-समभाव

सर्व-धर्म-समभाव की भूमिका का आश्रय ले उन-उन धर्मों के सन्तों के चरित्र या व्रत, उत्सव आदि चित्त-शुद्धि-साधक योजनाओं के बारे में जानकारी करायी जा सकती है। पर इसे भी मैं धर्म-शिक्षण नहीं कहूँगा। इसे इतिहास और समाज का अध्ययन कहा जा सकेगा।

अनुभवपूर्ण शिक्षा

चित्त-शुद्धि की तनिक भी परवाह न कर, कुछ तांत्रिक आचारों और क्रिया-कलापों से सीधे पुण्य हथियाने की कल्पनाएँ, जो सभी धर्मों में रूढ़ हैं, वे नष्ट होनी ही चाहिए। प्रत्येक बात अनुभव की कसौटी पर कस लेने की आदत बच्चों में डालनी चाहिए। अगर यह सध सके, तो मैं समझूँगा कि सारी धर्म-शिक्षा मिल गयी।

—मराठी 'हरिजन', ९ मार्च १९४७

शेष-शक्ति : ५१ :

बापू ने सब रचनात्मक कार्यक्रम में चरखे को सूर्य के समान माना और बाकी के सारे कार्यक्रम को ग्रहमाला की उपमा दी। मैं सोचता था कि उस रूपक में नयी तालीम का स्थान कहाँ है। नयी तालीम को एक ग्रह कहने की कल्पना मुझे मान्य नहीं हुई। सूर्य के साथ जिस कारण ग्रहमाला फिरती रहती है और जिस कारण सूर्य ग्रहमाला के साथ घूमता रहता है, वह कारण जिसे आकर्षण-शक्ति कहते हैं, वही हमारे रूपक में नयी तालीम हो सकती है। हमारे सब कार्यों के बीच परस्पर संबंध बनाये रखने-वाली आकर्षण-शक्ति के समान वह चीज है। इसीको हमने अपनी पौराणिक भाषा में शेषनाग कहा था। शेष का आधार सारी पृथ्वी और सृष्टि के लिए मानते हैं। कहने का भाव यह था कि सृष्टि का आधार बताने के लिए हम शब्द कहाँ से लायें, कारण

शब्द भी सृष्टि के अंतर्गत हैं। इसलिए कह दिया कि सृष्टि को शेष का आधार है। अर्थात् 'जो कुछ बचा हुआ है', उसका आधार सृष्टि को है। शेष का अर्थ ही है, बची हुई चीज और उसके सहस्र मुख माने गये हैं, क्योंकि यह शक्ति, जिससे दुनिया के सब पदार्थ परस्पर आकर्षित रहते हैं, हजारों दिशाओं में काम करती है। हमारे कामों में नयी तालीम ही शेषनाग है। याने हमारे जो कार्यकर्ता हैं, वे सारे अपने-अपने उद्योग में प्रवीण होने के साथ-साथ अगर नयी तालीम की दृष्टि रखेंगे, तो वे सेवा-कार्य में बहुत कारगर होंगे और वे हर जगह प्रवेश पा सकेंगे।

फच्चर

यह एक ऐसी फच्चर है, जिसे हम हर जगह डाल सकते हैं। इसके आधार पर हमारा काम हर जगह बढ़ सकता है। नयी तालीम के द्वारा हमारे दूसरे कामों का प्रवेश सब जगह हो सकता है। जो लोग हमारे दूसरे कार्यक्रमों को कबूल नहीं करते, वे भी नयी तालीम को कबूल कर लेते हैं। ऐसा सुलभ और सबको सहज ग्रहण हो सकने योग्य साधन है यह।

उभय मर्यादा

मैं यह नहीं कहता कि हरएक को शिक्षक होना चाहिए या वह वैसा हो सकता है। क्योंकि उसके लिए एक ख़ास योग्यता की आवश्यकता है। फिर भी उसके पीछे जो दृष्टि है, उसका ज्ञान सबको होना जरूरी है। वह दृष्टि इतनी ही कि हमारे जीवन से संबंधित जो ज्ञान है, उसे छोड़ना नहीं है और उससे

असम्बन्धित ज्ञान में पड़ना नहीं है। ये विधायक और निषेधक मर्यादाएँ हमारे लिए हो जाती हैं। ये दो मर्यादाएँ, क्या छोड़ना नहीं और किसमें पड़ना नहीं, सध जायँ, तो जो भी उद्योग हम करें, उसीके द्वारा हम अपने जीवन को और काम को परिपूर्ण बना सकते हैं। अन्यथा या तो हम जड़ बन जाते हैं याने एक जगह स्थावर हो जाते हैं या चारों ओर दौड़ते रहते हैं। लेकिन हमें न तो दौड़ना है और न जड़ ही बनना है। हमें तो निश्चित दिशा में निश्चित प्रवास करना है। यह नयी तालीम से बन सकता है।

पूर्ण समाधान

नयी तालीम द्वारा हमारे हर काम का संबंध अन्य सब कामों से और कुल सब कामों का संबंध हमारे जीवन से होना चाहिए। तब हमारा जीवन आनंदमय होगा, उसमें सामंजस्य होगा और समाधान भी। नहीं तो जीवन एकांगी होगा, समाधान नहीं रहेगा।

मैं देखता हूँ कि कार्यकर्ता कुछ समय तक तो काम करते हैं और उसके बाद फिर उन्हें उस काम में असमाधान होने लगता है। फिर वे सेवा के दूसरे क्षेत्र खोजने लगते हैं। एक भाई, जिन्होंने बीस साल चरखे के काम में लगाये, आज गोसेवा का काम हाथ में लेने का विचार कर रहे हैं, क्योंकि चरखे के काम में अब उन्हें समाधान नहीं मिलता। उन्होंने मेरी सलाह ली। मैंने कहा : यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि एक काम द्वारा आज तक जो ज्ञान हासिल किया, उसे छोड़कर एक नया ज्ञान हासिल करने की इच्छा करने से और जिस काम में आज तक तपस्या

की, उसे छोड़कर दूसरी तपस्या का आरंभ करने से जीवन व्यर्थ ही चला जाता है। लेकिन अगर नयी तालीम की दृष्टि कार्यकर्ता को होगी, तो उसके ध्यान में आयेगा कि उसके अपने चालू काम से ही दूसरे काम जोड़े जा सकते हैं और फिर असमाधान का कारण नहीं रहता।

—'सेवक', जनवरी १९४९

चरखे का अभ्यास : ५२ :

सूत कातने के उद्योग के राष्ट्रीय महत्त्व को स्वीकार करके अनेक लोगों को यह बात पसंद पड़ी है कि स्कूलों में चरखा सिखाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसलिए स्कूलों में सूत-कताई का अभ्यास कराया जाता है। पर चरखे का अभ्यास विधिवत् होना चाहिए। निश्चित समय पर जैसे-तैसे बैठकर सूत कात लेना ही बस नहीं है। कर्म यदि विधिवत् सम्पन्न किया जाता है, तभी उसका उपयोग होता है, अन्यथा उसका कुछ भी फल हाथ नहीं लगता। कर्म की ऐसी ही विचित्र गति है। स्कूल में चरखे का शिक्षण-दृष्टि से अभ्यास होना चाहिए। उस अभ्यास में निम्नलिखित मुख्य बातें आवश्यक हैं :

(१) धंधे का ज्ञान—अर्थात् बिनौला निकालना, धुनकना, पोनी बनाना, कातना। इन सब विषयों में अधिक-से-अधिक गति से उत्तम काम करना आना चाहिए। (इन चारों बातों का समावेश कातने में करना चाहिए।)

(२) कला का ज्ञान—अधिक-से-अधिक महीन सूत कातना, एक-एक हाथ से सूत कातना, सीधे तकुए पर सूत कातना, सब तंतु समांतर हों, इस प्रकार से धुनकना, पोनी न बनाकर कातना आदि।

(३) उपांग का ज्ञान—रेचा, धुनकी, चरखा, तकुआ को ठीक करने के लिए बढ़ईगिरी, लोहारी आदि के जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उतना जानना।

(४) यंत्रशास्त्र का ज्ञान—रेचा, धुनकी और चरखे के मुद्दे समझने भर का यंत्रशास्त्र का ज्ञान। घर्षण का क्या अर्थ है, उसे कैसे रोका जाय, चक्र और तकुए का क्या सम्बन्ध है, तकुआ क्यों हिलता है आदि।

(५) चरखे के अर्थशास्त्र का ज्ञान—ग्राम-रचना, सम्पत्ति का विभाजन, बेकारी का प्रश्न, विदेशी वस्त्र का बहिष्कार, कपास की दुनिया में भारत का स्थान, स्वावलम्बन, स्वराज्य आदि अनेक दृष्टि से कातने के उपयोग की खोज।

(६) कताई के इतिहास का ज्ञान—कताई की कला का उद्गम और विकास कैसे हुआ, हिन्दुस्तान में यह कला किस प्रकार लुप्तप्राय हो गयी आदि।

(७) धर्म-दृष्टि से ज्ञान—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों की कातने के विषय में वृत्ति, स्वदेशी धर्म, अविरोधमय जीवन, सादगी, गरीबों के लिए आस्था, श्रम की मान्यता, अस्पृश्यता-निवारण, स्त्रियों की मर्यादा आदि।

ये कुछ मुद्दे हैं। इन सब विषयों का भरपूर ज्ञान होना चाहिए। कताई का एक ओर खेती से और दूसरी ओर बुनाई

से सम्बन्ध है। इसलिए कताई के ज्ञान में खेती (कपास की उत्पत्ति आदि) तथा बुनाई के सामान्य ज्ञान का भी समावेश होना चाहिए।

—'मधुकर' से

देहात और शहरों की तालीम : ५३ :

आजकल शिक्षा के विषय में लोगों में काफी मंथन चल रहा है। सोचनेवाले लोग चिंतन में पड़े हैं, लेकिन बात बिलकुल सरल है। अपनी बहुत सारी जनता देहातों में रहती है, तो आम जनता की तालीम देहाती ढंग से होनी चाहिए, जिससे कि देहात की उन्नति हो। जो लोग शहरों में रहते हैं, उनकी दृष्टि भी ग्रामोन्मुख रहे, उनके और ग्रामों के बीच में अच्छी तरह सहयोग हो, इस प्रकार की तालीम शहरवालों को मिलनी चाहिए। अगर यह हो कि शहरवालों की तालीम एक दूसरे ही ढंग से चले और ग्रामों की दूसरे ही ढंग से चले और दोनों में विरोध रहे, तो यह विरोध देश के लिए खतरनाक होगा।

दोनों में समानता

वैसे देखा जाय, तो जिन्दगी का बहुत सारा अंश सबके जीवन में समान होता है, चाहे वह शहर की जिन्दगी हो, चाहे देहात की जिन्दगी हो। पंचभूतों का जो परिणाम गाँववालों पर होता है, वही शहरवालों पर होता है। उसमें कोई फर्क नहीं होता। स्वच्छ हवा की जरूरत शहरवालों को और गाँव-

वालों को, दोनों को समान रूप से है और होनी चाहिए। सृष्टि के साथ सम्पर्क दोनों के लिए लाभदायी है। यद्यपि शहरवालों के लिए यह बात जरा कठिन है, तो भी यह इन्तजाम शहरवालों के लिए होना चाहिए। आरोग्य-शास्त्र की आवश्यकता दोनों के लिए समान है। यह ठीक है कि शहरवालों के वास्ते आरोग्य की दृष्टि से एक दूसरा इन्तजाम करना पड़ेगा, गाँववालों के वास्ते एक दूसरा इन्तजाम करना होगा, लेकिन आरोग्य की जरूरत दोनों के लिए समान ही होगी। परस्पर सहयोग, प्रेम, त्याग-भावना इत्यादि जो धर्म-विचार हैं, वे दोनों के लिए समान लागू हैं। इतना फर्क होगा कि गाँवों में जीवन की बुनियादी चीजें बनेंगी, इस वास्ते ग्रामीण लड़के की तालीम अत्यन्त सहज भाव से होगी और शहरों में बुनियादी चीजें नहीं बनेंगी, गौण चीजें बनेंगी, इस वास्ते वहाँ की तालीम में उन चीजों पर आधार रखना पड़ेगा, तो उस तालीम में कुछ गौणता आ जायगी। यह जो गौणता शहर के शिक्षण में आयेगी, तो वहाँ के जीवन में ही होने के कारण उसको टाल नहीं सकेंगे, तब तक, जब तक कि शहरों को भी हम ग्रामों के समान रूप नहीं दे सकते।

शहर की तालीम में थोड़ी गौणता रह जायगी, यह हम कबूल करते हैं। परन्तु उस गौणता की पूर्ति हो सकेगी, अगर दो बातें उसमें हों। एक तो उनका मुख गाँवों की तरफ हो और दूसरी, परदेश की जानकारी वे काफी रखें। शहरों से यह अपेक्षा जरूर की जायगी कि वहाँ के लोग विदेशी भाषाओं से कुछ परिचय रखते होंगे, इस वास्ते उन भाषाओं में जो नयी-नयी चीजें आयंगी, वे नयी चीजें अपने साहित्य में लायेंगे, यह आशा उनसे जरूर

की जायगी और उनकी दृष्टि अगर ग्रामोन्मुख रही, तो ग्रामीणों की सेवा करना वे अपना धर्म समझेंगे। मैंने सूत्र ही बनाया था कि ग्रामीण होंगे सृष्टिपूजक या परमेश्वर-सेवक और शहर के लोग होंगे ग्राम-सेवक। अगर यह दृष्टि रही, तो दोनों स्थानों का इस तरह से विकास किया जा सकता है कि एक-दूसरे की पूर्ति में एक-दूसरे मदद दें।
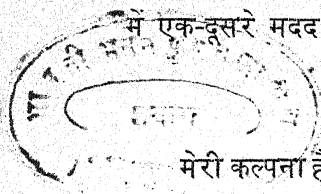
हर गाँव में विद्यापीठ

मेरी कल्पना है कि हर गाँव में सम्पूर्ण तालीम होनी चाहिए। जिसे हम युनिवर्सिटी कहते हैं, विद्यापीठ कहते हैं, वह हर गाँव में होना चाहिए। क्योंकि हरएक ग्राम चाहे कितना भी छोटा हो, सारी दुनिया का प्रतिनिधि है और कुल दुनिया थोड़े में वहाँ पर मौजूद है। इस वास्ते पूरी तालीम वहाँ मिलनी चाहिए। मनुष्य को, प्रत्येक गाँव का सृष्टि के साथ प्रत्यक्ष संबंध है, इस वास्ते, सृष्टि-विज्ञान सब तरह से वहाँ हासिल हो सकता है। असंख्य प्राणी, पक्षी, पशु इत्यादि के साथ संपर्क रहता है, इस वास्ते मानव के लिए जो पूरक ज्ञान चाहिए प्राणिशास्त्र का, वह यहाँ मिल सकता है। वहाँ पर खेती होगी, वहाँ पर कपड़ा बनेगा, वहाँ पर रास्ते बनेंगे, वहाँ पर ग्रामोद्योग होंगे। इस वास्ते उन सब चीजों के जरिये और उन चीजों के लिए इस ज्ञान की जरूरत है। वह सारा ज्ञान ग्राम में प्राप्त होना चाहिए और हो सकता है। ग्राम में मानव-समाज चला आया है प्राचीनकाल से, इस वास्ते वहाँ इतिहास भी मौजूद है और समाज-ज्ञान भी मौजूद है। ग्राम में एक-दूसरे से अधिक निकट संपर्क आता है। शहर में जितना

आता है, उससे ज्यादा। इस वास्ते वहाँ नीतिशास्त्र और धर्म-शास्त्र बहुत विकसित हो सकता है। आत्मा की व्यापकता, एक-दूसरे के साथ सहयोग करने की वृत्ति, सत्य-निष्ठा इत्यादि जो नीति-धर्म हैं, वे ग्राम में अच्छी तरह से प्रकट हैं। ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि आकाश में दीखते हैं, शायद शहरों में उनका प्रकाश अच्छी तरह पहुँचता न होगा। इसलिए गाँवों में काव्य-साहित्य का जितना विकास हो सकता है, शायद उतना शहरों में होना मुश्किल है।

सज्जन ग्रामनिष्ठा बढ़ायें

हम व्यास और वाल्मीकि ऋषि की आजकल के शहरों में कल्पना ही नहीं कर सकते, उनकी कल्पना तो ग्रामों या ग्रामों के नजदीक ही कर सकते हैं। शूर पुरुष, त्यागी पुरुष, जंगलों के जानवरों से लड़नेवाले जो होते हैं, वे तो ग्रामों में हो सकते हैं, इस वास्ते पराक्रमी पुरुषों की सेवा ग्राम से ही मिल सकती है। राष्ट्रों की सेना ग्रामों से ही मिलती आयी है। सवाल इतना ही है कि इतना सारा होता है, तो ग्राम में तालीम देने के लिए जो एक सरंजाम चाहिए, उतना सारा सरंजाम क्या हम गाँव में नहीं कर सकत? इसका उत्तर है, ग्रामों की चीजों में से कुछ सरंजाम हम गाँव में बना ही सकते हैं। लेकिन बहुत ज्यादा सरंजाम की जरूरत नहीं रहेगी, निरीक्षण और प्रयोग की अधिक जरूरत रहेगी। इसलिए कभी-कभी ग्राम के लड़कों को शहर की युनिव-सिटी में जाकर भी कुछ थोड़ा देखने का मौका लेना पड़ेगा, वैसे ही शहरवालों को भी ग्रामों में जाकर यहाँ की कुछ चीजें सीखने

का मौका आयगा। लेकिन इस सबके लिए मेरी निगाह में जो बहुत जरूरी चीज है, वह यह है कि सज्जन और विद्वान जन गाँवों में रहना पसंद करें। सत्पुरुषों ने ग्राम-निष्ठा बढ़ायी, तो जो काम होगा, वह और किसी दूसरी रीति से नहीं होगा और युनिवर्सिटी के लिए जरूरी चीज तो यही है कि गाँव-गाँव में कोई सज्जन विचार का अनुशीलन करनेवाले मौजूद हों। इस तरह से एक-एक सज्जन एक-एक गाँव में आकर रहने लगे, तो उस गाँव के लिए तालीम का इन्तजाम करना किसी तरह से कठिन नहीं होगा।

संन्यासी—चलता-फिरता विद्यालय

इसके अलावा भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान, जो गाँव का कोई व्यक्ति या गाँव का सज्जन भी प्राप्त नहीं कर सकता, वह गाँवों को मिले, ऐसी भी एक योजना हमारे पूर्वजों ने की थी, वह हमको जारी करनी होगी। यह है परिव्राजक संन्यासी की योजना। संन्यासी गाँव-गाँव घूमता भी रहेगा और २-४ महीने किसी एक स्थान में रहेगा, तो उसका पूरा लाभ गाँवों को मिलेगा। वह सारी दुनिया का और आत्मा का ज्ञान सबको देता ही रहेगा। संन्यासी माने 'वाकिंग युनिवर्सिटी', चलता-फिरता विद्यालय, जो कि हर गाँव में खुद हो करके जायगा। वह विद्यार्थियों के पास खुद पहुँचेगा और मुफ्त में सबको तालीम देगा। गाँववाले इनके लिए सात्त्विक, स्वच्छ, निर्मल आहार देंगे, इसके अलावा उनको कुछ जरूरत नहीं और उनसे जितना भी ज्ञान मिल सकता है, गाँववाले पा लेंगे। ज्ञान प्राप्त करने

के लिए एक भी कौड़ी या पैसा खर्च करना पड़े, उससे अधिक दु:खदायक घटना कोई नहीं हो सकती। जिसके पास ज्ञान होता है, उसको इस बात की अत्यन्त प्यास होती है कि दूसरों के पास वह ज्ञान पहुँचे। उसको भूख होती है कि उसका ज्ञान दूसरों के पास कैसे जाय? जैसे बच्चे को माता के स्तनपान की जितनी इच्छा होती है, उतनी ही इच्छा माता को बच्चे को स्तनपान कराने की होती है, क्योंकि उसके स्तनों में दूध भगवान् ने भर दिया है। कल अगर यह हो जाय कि माताएँ लड़कों से फीस लिये बगैर उनको दूध नहीं देंगी, तो दुनिया की क्या हालत होगी?

वानप्रस्थ शिक्षक

ऊँचे ज्ञान के लिए शहर की युनिवर्सिटी में जाना पड़ेगा और वहाँ सौ-सौ, दो-दो सौ रुपये खर्च किये बगैर कुछ हो ही नहीं सकता। समझने की जरूरत है कि इस तरह से पैसा खर्च करके जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान ही नहीं होता। पैसे से खरीदा ज्ञान अज्ञान ही होता है। प्रेम देकर और सेवा देकर ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। पैसा खर्च करके ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता। इस वास्ते जो ज्ञानी पुरुष गाँव-गाँव घूमते हों और वे जिस गाँव में जायँ, उस गाँव के लोग प्रेम से उनको २-४ दिन ठहरा लें, उनकी खुद भक्ति करें और उनके पास जो ज्ञान भरा है, उसे हासिल करें। यही योजना हो सकती है। जैसे नदी खुद होकर लोगों की सेवा के वास्ते गाँव-गाँव दौड़ी जाती है, जैसे खुद होकर जंगलों में खा-पीकर अपने-अपने थनों में दूध भरी हुई

गायें बच्चों को पिलाने के लिए दौड़ी चली आती हैं, उसी तरह ज्ञानी पुरुष भी गाँव-गाँव में ज्ञान लेकर दौड़ेंगे। तो यह परिव्राजक की संस्था फिर से खड़ी होनी चाहिए। इस तरह हर गाँव में युनिवर्सिटी बन सकती है और दुनिया का ज्ञान हर गाँव में पहुँच सकता है। वानप्रस्थ-आश्रम की संस्था फिर से मजबूत करनी चाहिए, जिससे हर गाँव में स्थिर शिक्षक मिलें, जिन पर कोई ज्यादा खर्च करना न पड़े। हरएक गृहस्थ का घर है स्कूल और उसका खेत है प्रयोगशाला। हरएक वानप्रस्थ है शिक्षक और हरएक परिव्राजक संन्यासी 'युनिवर्सिटी'। विद्यार्थी हैं आज के बच्चे, जो सीखना चाहते हैं। गाँव-गाँव में ऐसे लोग हैं, जो १-२ घंटा सीखेंगे और बाकी का समय दिनभर काम करते रहेंगे। इस तरह के चार आश्रमों की जो हमारी योजना है, वह पूरी योजना बचपन से लेकर मरण तक की तालीम की योजना है, ऐसा हम समझते हैं।

सर्वोदय की दृष्टि

सर्वोदय में यह दृष्टि है कि सारा गाँव अपने पूरे जीवन की समस्याएँ अपने बल से हल करे। इस वास्ते गाँव की कुल दौलत किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि गाँव की बननी चाहिए, तो गाँव के सब बच्चों के लिए समान तालीम की योजना बन सकती है। हरएक को समान रूप से पौष्टिक और सात्त्विक खुराक अगर हम नहीं दे सकते, तो समान रूप से हम तालीम क्या दे सकेंगे? सुदामा गरीब ब्राह्मण का लड़का था और श्रीकृष्ण राजा का लड़का। दोनों गुरु के घर गये थे। दोनों को समान खुराक

मिलती थी, दोनों को समान ही परिश्रम का काम मिलता था और दोनों को समान ही विद्या दी गयी थी। अगर किसी गाँव में हमारा विद्यालय खुल जाय, जहाँ एक लड़का है गरीब का, जो फटे कपड़े से आता है और दूसरा अच्छे कपड़े से आता है, एक लड़का है, जिसे सुबह खाने को नहीं मिलता और दूसरा लड़का, जो कि बैठे-बैठे खाता है और आलसी बन गया है, तो हमारा स्कूल चलेगा कैसे? इसलिए अगर हम चाहते हैं कि ठीक ढंग से सबकी तालीम हो, तो उसके वास्ते यही इलाज है कि गाँव का जीवन एक परिवार के समान हो और गाँव की कुल दौलत, कुल बुद्धि, कुल शक्ति सबके काम में आनी चाहिए।

जिसको हम नयी तालीम कहते हैं, वह उस अहिंसा में छिपी हुई है, जिसका प्रकाश भूदान और ग्रामोद्योग के जरिये फैलेगा। परमेश्वर करे कि ऐसे प्रेम, ज्ञान और वात्सल्यता से भरे गुरु अपने हिंदुस्तान के हरएक गाँव को हासिल हों!

असुरेश्वर (उड़ीसा)
६ मार्च १९५५

नयी तालीम से नया समाज : ५४ :

मैंने देखा है कि नयी तालीम से जो अपेक्षाएँ की जाती हैं, वे पूरी नहीं हो रही हैं। इसलिए शिक्षक और विद्यार्थियों में भी कुछ असंतोष-सा है। आवड़ी में कांग्रेस ने नयी तालीम के बारे में प्रस्ताव किया। पंडित नेहरू ने खुद वह प्रस्ताव रखा। १० साल के बाद नयी तालीम ही सरकारी

तालीम होगी, ऐसा उसमें कहा गया है। इसलिए आज नयी तालीम के जो स्कूल चलते हैं, वे नमूने के होने चाहिए। तो फिर उनसे जो अपेक्षा की जाती है, वह पूर्ण होगी और हिन्दुस्तानभर में उनका अनुकरण होगा। नहीं तो कहेंगे कुछ और चलेगा कुछ। आज तो जिनको 'बेसिक वायस्ट स्कूल' कहते हैं, वे इस तरह से चलते हैं कि उनको नरसिंहावतार ही कहना होगा—न पूरा मानव, न पूरा पशु। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हम लोग कुछ नमूने के विद्यालय चलायें। लेकिन इसके मानी क्या है, इस बारे में चित्त में सफाई होनी चाहिए।

दूषित कल्पनाएँ

बहुत-से लोग समझते हैं कि लड़कों को थोड़ा-सा उद्योग दिया, कुछ चरखा काता, तो नयी तालीम हो गयी। कुछ लोग समझते हैं कि ज्ञान की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दिया, तो नयी तालीम हो गयी और कुछ लोग समझते हैं कि ज्ञान का काम के साथ जोड़ बैठा दिया, तो नयी तालीम हो गयी। फिर वह जोड़ सहज रूप से बैठता है या नहीं, इस तरफ ध्यान देने की भी जरूरत नहीं है। ये तीनों कल्पनाएँ दूषित हैं।

उद्योग में प्रवीणता

नयी तालीम के विद्यार्थियों को कुछ थोड़ा-सा उद्योग देने से काम नहीं चलेगा। नयी तालीम के लड़के तो उद्योग में इतने प्रवीण होंगे कि जैसे मछली पानी में तैरती है, उसी तरह वे काम करेंगे। हमारे लड़कों में यह हिम्मत अभी चाहिए कि चार

घंटा उद्योग करके अपने पेट के लिए कमा लेंगे। नमूने के तौर पर थोड़ा-सा कातना-बुनना जान लिया, उतने से काम नहीं चलेगा। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि हमें उद्योग में प्रवीण होने की क्या जरूरत है, हम तो स्कूल में पढ़ानेवाले हैं। माँ छोटे बच्चे को यह सिखाती है कि खाना कैसे खाया जाता है। जब वे सीख जाते हैं, तोयह नहीं कहा जाता कि अब वे खाने की कला सीख गये, तो फिर उनको खाने की क्या जरूरत है। परन्तु खाने का ज्ञान हुआ, इतने से काम पूरा नहीं होता। मनुष्य को हर रोज खाना मिलना चाहिए। जैसे मनुष्य के लिए खाना नित्य की चीज है, उसी तरह नयी तालीम के शिक्षकों को और लड़कों को नित्य चार घंटा शरीर-परिश्रम करना चाहिए। उनको उद्योग में इतना प्रवीण होना चाहिए कि गाँव के बढ़ई, किसान आदि उनके पास सीखने आयेंगे। औजारों में सुधार करने की कला भी उनको हासिल होनी चाहिए। उनको खेती का आचार्य बनना चाहिए। आज ग्रामोद्योग टूट गये हैं, इसलिए नयी तालीम के जरिये ग्रामोद्योगों को फिर से खड़ा करना है।

पूरा ज्ञान आवश्यक

नयी तालीम में पुस्तकों का महत्त्व नहीं है, इसलिए ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जाती। अक्सर माना जाता है कि इसमें तो जितना सहज ज्ञान मिलेगा, उतना ही सब है। लेकिन यह खयाल गलत है। नयी तालीम में जीवन की सभी बुनियादी चीजों का पूरा ज्ञान होना चाहिए। लंबा-चौड़ा इतिहास और निकम्मे राजाओं की नामावली याद रखने की कोई जरूरत नहीं है। उससे तो

विद्यार्थियों के सिर पर नाहक बोझ लदता है। लेकिन जीवन के जो बुनियादी विचार हैं, जिनसे हमारा जीवन विकसित होता है, उनका ज्ञान जरूरी है। तत्त्वज्ञान, धर्म-विचार, नीति-विचार, इन सबकी जानकारी आवश्यक है। हमारे समाज की और दूसरे समाज की विशेषताएँ क्या हैं, इसका भी ज्ञान होना चाहिए। विज्ञान के मूलभूत विचार लड़कों को मालूम होने चाहिए। उन्हें आरोग्यशास्त्र, आहारशास्त्र, स्वच्छता, रसोई-शास्त्र आदि का उत्तम ज्ञान होना चाहिए। इस तरह नयी तालीम में ज्ञान की कोई कमी नहीं होनी चाहिए। भाषा का भी उत्तम ज्ञान होना चाहिए। अपने विचार ठीक ढंग से प्रकाशित करने की कला मालूम होनी चाहिए। अक्षर सुन्दर होने चाहिए, साहित्य का ज्ञान होना चाहिए। इस तरह हमारी तालीम में ज्ञान की कमी नहीं होगी, लेकिन निकम्मा ज्ञान नहीं होगा।

आजकल की युनिवर्सिटियों में विद्यार्थियों के सिर पर नाहक निकम्मे ज्ञान का बोझ डाला जाता है और कहते हैं कि ३३ प्रतिशत नंबर मिले, तो पास होंगे। इसका मतलब है कि ६७ प्रतिशत भूलने की गुंजाइश रखी गयी है। वास्तविक ज्ञान में तो १०० प्रतिशत याद रहना चाहिए। जो रसोइया ८० प्रतिशत अच्छी रोटी बना सकता है, उसे कौन नौकरी देगा? उसी तरह ज्ञान में कच्चापन न होना चाहिए। ज्ञान या तो है या नहीं है, सोलह आना है या नहीं है। क्या यह हो सकता है कि कोई मनुष्य ८० प्रतिशत जिंदा है और २० प्रतिशत मरा है? अगर वह जिंदा है, तो पूरा जिंदा है और मरा है, तो पूरा मरा है। फी-सदीवाली बात ज्ञान में नहीं चलती। ज्ञान तो पूरा और

निश्चित होना चाहिए, संशययुक्त नहीं होना चाहिए। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयवालों ने ६७ प्रतिशत भूलने की गुंजाइश रखी है, क्योंकि वे भी जानते हैं कि निकम्मा ज्ञान सिखाया जाता है। नयी तालीम में इस तरह भूलने की गुंजाइश नहीं होगी। जितना भी सिखाया जायगा, उतना सब याद रखने लायक होगा और विद्यार्थी सब याद रखेगा, क्योंकि वह ज्ञान जीवन में काम आयेगा। वास्तव में जो विद्या होती है, उसे मनुष्य भूलता नहीं और जिसे भूलता है, वह विद्या नहीं है। इस तरह नयी तालीम में हम ऐसी विद्या सिखायेंगे, जो भूली नहीं जायगी। नयी तालीम पाकर तो महाज्ञानी लोग निकलने चाहिए।

ज्ञान और कर्म का समवाय

अब ज्ञान और काम का जोड़ बैठाने की बात लीजिये। हमने तो 'समवाय' शब्द बनाया है। जैसे मिट्टी और घड़ा, ये दोनों एक-दूसरे से इतने ओतप्रोत हैं कि उनका अलगाव ही नहीं बताया जा सकता और न अद्वैत ही। इस तरह जहाँ पर द्वैत और अद्वैत का निर्णय नहीं होता, उस संबंध को 'समवाय' कहते हैं। जिस शिक्षा-पद्धति में ज्ञान और उद्योग का समवाय होगा और हम बता नहीं सकेंगे कि इस समय ज्ञान चल रहा है या उद्योग, वही हमारी पद्धति होगी। ज्ञान और कर्म में फर्क नहीं किया जायगा। ज्ञान की प्रक्रिया चलती है, तो कर्म की भी प्रक्रिया चलेगी और कर्म की प्रक्रिया चलती है, तो ज्ञान की भी प्रक्रिया चलेगी। कर्म और ज्ञान एक-दूसरे से इतने ओतप्रोत होंगे कि किसी भी तरह का जोड़ बैठाने का काम नहीं किया जायगा।

बाहर से ज्ञान लेने की बात नहीं रहेगी। उद्योग के जरिये ही ज्ञान का विकास किया जायगा और ज्ञान के जरिये ही उद्योग का। यही हमारी पद्धति है। ज्ञान और कर्म की सिलाई करके जो पद्धति बनायी जायगी, वह हमारी नहीं होगी। हमारी पद्धति में तो ज्ञान और कर्म एक-दूसरे में ओतप्रोत रहेंगे।

नयी समाज-रचना ही लक्ष्य

नयी तालीम के बारे में जो गलतफहमियाँ हैं, उस बारे में मैंने अभी कहा। अब एक महत्त्व की बात कहूँगा। नयी तालीम आज की समाज-रचना कायम रखकर नहीं दी जा सकती। आज की समाज-रचना के साथ नयी तालीम का पूरा विरोध है। अगर कोई कहे कि नयी तालीम तो तालीम का एक प्रकार है। उद्योग के जरिये तालीम देने की एक पद्धति है, तो ऐसा कहना गलत है। नयी तालीम तो नये समाज का ही निर्माण करेगी। आज की समाज-रचना में ही नयी तालीम को बैठाया जाय और शिक्षकों की तनख्वाह में कम-बेशी रहे, डिग्री के अनुसार तनख्वाह दी जाय, यह सब उसमें नहीं चलेगा। अगर नयी तालीम में ही शिक्षकों की तनख्वाह में फर्क रहा, तो 'स्टेट' में कैसे बदल होगा? आज तो 'स्टेट' का जो सारा यंत्र बना है, उसमें योग्यता के अनुसार तनख्वाह दी जाती है, दर्जे बने हुए हैं। नयी तालीम इसे खतम करेगी। अगर नयी तालीम का उसके साथ विरोध नहीं आता और नयी तालीम उसको तोड़ती नहीं, तो वह नयी तालीम ही नहीं है। नयी तालीम में शरीर-परिश्रम और मानसिक-परिश्रम की नैतिक और आर्थिक योग्यता समान मानी जायगी।

इसका मतलब है कि आज की कुल आर्थिक-रचना ही हमें बदलनी है और उसे बदलने के वास्ते ही नयी तालीम है।

राजसुनाखला, पुरी (उड़ीसा)
१७ अप्रैल १९५५

ब्रह्मविद्या और उद्योग : ५५ :

आज तालीम देनेवाला कुर्सी पर बैठता है, लेनेवाला बेंच पर और पुस्तक के जरिये पाठ पढ़ाया जाता है। इस तरह की तालीम पानेवाला कोई भी काम करने के लिए नालायक बन जाता है। आज सारे लड़के रसोई करना नहीं जानते। वे समझते हैं कि यह तो हीन काम है, स्त्रियों का काम है, हमारा काम नहीं है। हमारा काम खाने का है। इसलिए हम उच्च हैं। हम ऐसी तालीम देना चाहते हैं, जिसमें लड़कों को रसोई का ज्ञान हासिल होगा। इन दिनों स्कूलों को गर्मी के दिनों में छुट्टियाँ होती हैं, क्योंकि वे गर्मी सहन नहीं कर सकते। इस तरह जो गर्मी और बारिश सहन नहीं कर सकते, वे खेत में कैसे काम करेंगे?

भगवान् कृष्ण की तालीम

जैसे भगवान् कृष्ण को काम करते-करते तालीम मिली थी, वैसे ही हमारे लड़कों को मिलनी चाहिए। भगवान् कृष्ण गाय चराते थे, दूध दुहते थे, घर लीपते थे, मेहनत-मजदूरी करते थे, गुरु के घर जाकर लकड़ी चीरने का काम करते थे, अर्जुन

के घोड़ों की सेवा करते थे और उसका सारथ्य भी करते थे। राजसूय-यज्ञ के समय उन्होंने युधिष्ठिर महाराज से काम माँगा, तो युधिष्ठिर ने कहा कि आपके लिए हमारे पास काम नहीं है, लेकिन भगवान् ने कहा कि मैं बेकार नहीं रहना चाहता। युधिष्ठिर ने कहा कि आप ही अपना काम ढूँढ़ लीजिये। भगवान् ने कहा कि मैंने अपना काम ढूँढ़ लिया, जूठी पत्तलें उठाने का और गोबर लीपने का काम मैं करूँगा। मैं उस काम के लायक हूँ। मैंने बचपन से वह काम किया है और उस काम में मैं एम० ए० हूँ। इस तरह उन्होंने जूठी पत्तलें उठाने का काम किया, जिसका वर्णन शुकदेव ने भागवत में और व्यास भगवान् ने महाभारत में किया है और जब मौका आया, तो कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को ब्रह्म-विद्या का उपदेश भी दिया।

आज की तालीम

हमारे देश के लड़के ऐसे होने चाहिए कि इधर तो ब्रह्म-विद्या का गायन करें और उधर झाड़ू लगायें, गोबर लीपें, खेत में मेहनत करें। आज की तालीम ऐसी है कि उसमें ब्रह्म-विद्या का पता है, न उद्योग का। ब्रह्म-विद्या न होने का परिणाम यह हो रहा है कि हम सब विषयभोग-परायण बन गये हैं, इंद्रियों के गुलाम हो गये हैं। जो पढ़ा-लिखा होता है, वह आरामतलब हो जाता है। उसके मन में भोग और ऐश्वर्य की लालसा सतत बनी रहती है। तालीम में उद्योग न होने के कारण हाथ भी बेकार बन जाते हैं। इस तरह आत्म-ज्ञान के अभाव में बुद्धि बेकार और उद्योग के अभाव में हाथ बेकार। फिर ये शिक्षित लोग दस उँगलियों से काम करने के बजाय

हाथ में लेखनी लेकर तीन उँगलियों स काम करते हैं। अगर इस तरह की विद्या सबको हासिल होगी, तो देश क्या खायगा?

ब्रह्मविद्या और उद्योग

इसलिए आज की तालीम बदलनी होगी और तालीम में ब्रह्म-विद्या और उद्योग, दोनों बातें शामिल करनी होंगी। ब्रह्म-विद्या से आत्मा की पहचान हो जायगी। शरीर, मन और इन्द्रियों पर काबू रहेगा। सारी दुनिया के प्रति प्रेम पैदा होगा, स्व-पर का भेद मिट जायगा, यह छोटा-सा घर मेरा है, यह खेत मेरा है—इस तरह की सब बातें मिट जायँगी। जिसको ब्रह्म-विद्या हासिल हुई है, वह 'मेरा-मेरा' नहीं कहेगा। वह कहेगा कि यह घर, यह जमीन, यह सम्पत्ति 'सबकी' है। लेकिन जिनको भ्रम-विद्या मिलती है, वे कहते हैं कि यह सब 'मेरा' है।

हमारी तालीम में हर लड़का दोनों हाथों से काम करेगा और स्वावलंबी बनेगा। हर लड़का उत्तम रसोई करेगा। सब लड़के खेत में मेहनत करेंगे। आज तो देश में इतना आलस फैला हुआ है कि सारे उद्योग खतम हो रहे हैं। अच्छे उद्योग करनेवाले लोग चाहिए, अच्छे बढ़ई चाहिए, बुनकर चाहिए, इन्जीनियर चाहिए, लोहार चाहिए, चमार चाहिए, सिपाही और सेनापति चाहिए। हमें ऐसे व्यापारी चाहिए, जो व्यापार करके लोगों की रक्षा करेंगे, किसी को ठगेंगे नहीं। कोई धन्धा ऊँचा नहीं होगा, कोई नीचा नहीं होगा। कोई भी यह नहीं कहेगा कि फलाना काम मैं नहीं कर सकता, क्योंकि वह हीन काम है।

नौरंगपुर, कोरापुट (उड़ीसा)
५ जुलाई १९५५

नयी तालीम का आदर्श : ५६ :

विद्यार्थियों के लिए गुरु देवता है और गुरु के लिए शिष्य देवता है। विद्यार्थियों को गुरु से जो ज्ञान मिलेगा, वह सर्वस्व होगा और गुरु-सेवा ही उनके लिए सर्वस्व होगी। शिक्षकों के लिए विद्यार्थियों को ज्ञान देना और उनकी चिंता करना, यही सर्वस्व होगा। गुरु को यह नहीं मालूम होना चाहिए कि मैं सेवा करता हूँ, तो उसमें मेरा और कोई मतलब सधता है। विद्यार्थियों को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि हम गुरु-सेवा करते हैं, तो उसमें हमारा और कोई मतलब सधता है। इसका मतलब यह है कि विद्यार्थियों के लिए गुरु-सेवा और शिक्षकों के लिए विद्यार्थी-सेवा पर्याप्त ध्येय, एकमात्र ध्येय और अनन्य ध्येय मालूम होना चाहिए और दोनों मिलकर परमेश्वर की सेवा कर रहे हैं, ऐसी अनुभूति होनी चाहिए।

सामूहिक जीवन

इसके लिए कुछ बातें बहुत लाभदायक होती हैं। जैसे अगर दोनों मिलकर खेती, कपड़ा बनाना, सफाई आदि जैसा कोई उत्पादन का कार्य करते हों और दोनों का सामूहिक जीवन बनता हो, तो बड़ी लाभदायी वस्तु हो जाती है। उसी तरह दोनों मिलकर अध्ययन-अध्यापन करते हैं, तो वह भी एक स्वतंत्र ध्येय क लिए है। इसके जरिये हम समाज की कोई सेवा कर रहे हैं, ऐसी अनुभूति होनी चाहिए। अगर इस तरह का अनुभव

अध्यापन में और उद्योग में आता हो, तो आज पुस्तकों की जो समस्या है, वह नहीं उठेगी याने दोनों प्रकार के अनुभवों से जरूरी पुस्तक वहाँ पर निर्माण होगी।

अनुभवपूर्ण ग्रन्थ

हमारे यहाँ जो उत्तम भाष्य-ग्रंथ हुए हैं, वे इसी तरह से प्रत्यक्ष अध्यापन-कार्य में से निर्मित हुए हैं। जैसे भगवान् शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर एक अप्रतिम भाष्य लिखा है, जो साधकों में बहुत प्रसिद्ध है। तत्त्वज्ञान पर इतना गहरा ग्रंथ अक्सर देखने को नहीं मिलता, परन्तु वह ऐसी प्रसन्न और आसान भाषा में लिखा है कि जैसे कोई सर्वसाधारण जनता के लिए किसी साहित्यिक ने लिखा हो। उसी प्रकार जो तत्वज्ञानी दुनिया में हुए हैं, जैसे ग्रीन, काण्ट आदि, उनके ग्रंथ बड़े जटिल हैं। लेकिन शंकराचार्य का ग्रंथ इतना आसान है कि मैंने तो बच्चों को संस्कृत सिखाते समय बड़े मजे में वह पढ़ाया है और बच्चों को भी यही मालूम हुआ कि हम अपनी मातृभाषा में पढ़ रहे हैं। इसका कारण यह है कि शंकराचार्य ने अपने शिष्यों के लिए ब्रह्मसूत्र का अध्यापन किया था और उस अनुभव पर ग्रंथ लिखा गया है। उन्होंने अध्यापन के समय तो एक-एक सूत्र पर विस्तृत विवरण किया होगा और उसीके नोट्स लेकर बाद में वह ग्रंथ संक्षिप्त रूप में लिखा होगा। इसलिए उस भाष्य की शैली ही इस प्रकार की है कि मानो कोई संवाद या चर्चा चल रही हो। वह पुस्तक पढ़ते समय हमें ऐसा नहीं लगता कि लेखक ने ग्रंथ लिखा हो और हम पढ़ रहे हैं। बल्कि ऐसा लगता है कि कोई गुरु कह रहा है और हम सुन रहे हैं।

मेरी रचनाएँ

इस तरह अध्ययन-अध्यापन और उद्योग एक सामाजिक सेवा की दृष्टि से चले, तो उसमें से पुस्तकें निर्माण होंगी। मैंने कताई पर एक छोटी-सी किताब प्रत्यक्ष अनुभव से लिखी है। विद्यार्थियों को सिखाते-सिखाते और उद्योग करते-करते वह पुस्तक बनी है। 'गीता प्रवचन' तो साक्षात् जेल में कुछ कैदियों के सामने दिये गये व्याख्यान हैं। अगर मेरा सेवा का उद्देश्य नहीं होता और इस तरह का स्वाभाविक कार्य नहीं चलता, तो स्वतंत्रभाव से मैं ऐसी पुस्तक न लिखता। हम रोज शाम की प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ के लक्षण बोलते हैं। जेल में एक दिन मुझसे कहा गया कि उन पर कुछ व्याख्यान दीजिये, जिससे कि उसका सार समझ में आ जाय, तो कुछ भाइयों के सामने मैं उन श्लोकों का विवरण देता गया और उसीकी वह 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' पुस्तक बनी। जेल में मेरी जो 'स्वराज्य-शास्त्र' पुस्तक लिखी गयी, वह भी इसी तरह लिखी गयी। एक भाई ने कुछ सवाल पूछे और उसके उत्तर मैंने उन्हींको बोल दिये। उसीकी वह किताब बनी।

इस तरह जहाँ पर शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर समाज-सेवा के उद्देश्य से अध्ययन, अध्यापन और उद्योग करते हैं, वहाँ पर उनका अनुभव वहीं तक सीमित नहीं रहता, उसका लाभ सारी दुनिया को मिलता है। इस तरह से जो ग्रंथ निर्माण होते हैं, उनका संप्रदाय चलता है और उनके अध्ययन-अध्यापन की परंपरा चलती है।

विचार-मन्थन और प्रयोग

नयी तालीम के विद्यालय से हम हमेशा यह आशा करते हैं कि उसमें विचारों का खूब अध्ययन चले और उसका आचरण भी हो। उस चिंतन, मनन या सह-चिंतन और सह-आचरण से, जो गुरु और शिष्य, दोनों मिलकर करते हैं, दुनिया को अनुभवयुक्त ज्ञान मिलता है। जहाँ विचार-मंथन और प्रयोग, दोनों एक हो जाते हैं, घुल-मिल जाते हैं, उसे ही 'नयी तालीम' कहते हैं। जहाँ कुछ विचार-मंथन चलता है, परन्तु उसे आचरण का आधार नहीं मिलता, वहाँ पर पुरानी तालीम चलती है, जो आज सर्वत्र चल रही है। जहाँ पर प्रत्यक्ष आचरण चलता है, आचरण के प्रयोग चलते हैं, परन्तु विचार-मंथन, चर्चा आदि नहीं चलती, वह है कर्मयोग, जो आज असंख्य किसान सचाई से कर रहे हैं। इस तरह इधर से ये किसान और उधर से वे तत्त्वज्ञानी, दोनों मिलकर जो चीज बनती है, वह है, नयी तालीम के शिक्षक और विद्यार्थी।

गोपाल कृष्ण

इसकी मिसाल भगवान् गोपाल कृष्ण हैं। इधर तो वे गायें चराते थे, घोड़ों की सेवा करते थे, लड़ाई लड़ते थे और उधर गीता भी सुनाते थे। जो भी सेवा-कार्य सामने आया, उसे करने के लिए वे राजी थे और उनका हृदय निरंतर तत्वज्ञान से भरा रहता था। मैंने भगवान् श्रीकृष्ण की मिसाल इसलिए दी कि उन्होंने तत्त्वज्ञान में अपने पूर्वजों का सिर्फ अनुसरण नहीं किया, बल्कि उसमें वृद्धि की। उनके पहले ज्ञानयोग चलता था, कर्मयोग

चलता था और भक्तियोग चलता था। ध्यानयोग भी चलता था और गुण-विकास की प्रक्रिया भी सांख्यों ने अलग से चलायी थी। उन सब चीजों का समन्वय करके भगवान् कृष्ण ने दुनिया के सामने एक नयी चीज उपस्थित की, इसलिए हम श्रीकृष्ण को जगद्‌गुरु कहते हैं। उन्होंने दुनिया को नयी वस्तु दी है। उन्होंने कर्मयोग किया, तो उसमें भी पहले के किसानों का और उद्योग करनेवालों का न सिर्फ अनुसरण किया, बल्कि उसमें वृद्धि की। उन्होंने लोगों को इंद्र की उपासना से हटाकर पर्वत की उपासना सिखायीं उन्होंने गायों की इतनी प्रतिष्ठा बढ़ायी कि हिन्दुस्तान में उनका नाम आज तक गोसेवा के साथ जुड़ा हुआ है और एकनाथ महाराज ने तो बड़े गौरव के साथ लिखा है कि प्रभु रामचंद्र के अवतार में सब प्रकार से पूर्णता थी, लेकिन एक कमी रह गयी थी, जिसे पूर्ण करने के लिए उन्होंने कृष्ण का अवतार लिया। वह कमी यह थी कि रामावतार में गायों की सेवा नहीं हो सकी थी, इसलिए उन्होंने कृष्णावतार लिया। उन्होंने समाज के कर्मयोग में गोसेवा के रूप में वृद्धि की।

तत्त्वज्ञान और कर्मयोग

भगवान् कृष्ण ने तत्त्वज्ञान में, सामाजिक क्षेत्र में और उद्योग में वृद्धि की। उन्होंने समाज को एक नया तत्त्वज्ञान दिया और एक नया कर्मयोग दिया। इसका मतलब यह नहीं कि उनके तत्त्वज्ञान को पुराना आधार नहीं था और उन्होंने बिलकुल ही नयी चीज दुनिया को दी। पुराना आधार तो था ही, परंतु नया मिष्ठान्न दुनिया को दिया। उनके पहले घी था, गुड़ था और

गेहूँ था, परंतु उन्होंने उसकी नयी मिठाई बनायी। जब लड्डू बनता है, तो घी, गुड़ और गेहूँ से एक स्वतंत्र वस्तु बनती है। उनके पहले तत्त्वज्ञान के जो मूलभूत विचार थे, उनको जोड़कर उन्होंने तत्त्वज्ञान के लड्डू बनाये। उनके पहले गाय की सेवा की कोई कल्पना न थी, ऐसी बात नहीं है। परंतु उन्होंने गो-पूजा को स्वतंत्र स्थान दिया। उन्होंने गाय की सेवा को उपासना का रूप दिया। हिंदुस्तान के सामाजिक क्षेत्र में उनका यह स्वतंत्र दान है। यहाँ पर मैं कृष्ण-चरित्र कहने नहीं बैठा हूँ। लेकिन मैंने मिसाल ऐसे शख्स की दी, जो सारा सामाजिक कार्य आध्यात्मिक दृष्टि से करता था और जिसके जीवन में ज्ञान और कर्म की दोनों धाराएँ एक हो गयी थीं।

बुनियादी शिक्षक का आदर्श

बुनियादी शिक्षक को यही आदर्श सामने रखना चाहिए। बुनियादी शिक्षक किसी भी किसान से, बुनकर से या बढ़ई से कम कुशल नहीं होंगे, बल्कि ज्यादा कुशल होंगे। किसान, बढ़ई आदि को जो चीजें नहीं सूझती होंगी, वे इन्हें सूझेंगी। किसान, बढ़ई आदि अपने काम में जो रफ्तार हासिल नहीं कर सकते, वह रफ्तार इन्हें हासिल होगी और औजारों में सुधार करने की जो बात उन्हें नहीं सूझती होगी, वह इन्हें सूझेगी। किसान को अगर अपनी रोटी हासिल करने में आठ घंटे लगते होंगे, तो बुनियादी शिक्षक कहेगा कि यह काम चार घंटे में हो सकता है। इतनी प्रगति उसको करनी चाहिए। इन दिनों मैंने जहाँ कहीं बुनियादी शिक्षण के केंद्र देखे हैं, वहाँ पर शिक्षक लोग कुछ उद्योग

जानते हैं, परंतु प्रतीक जैसे जानते हैं। जैसे मछली पानी में तैरती है, खेलती है, वैसे वे शिक्षक उद्योग में तैरते या खेलते नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण योद्धा थे, तो खेलनेवाले और तैरनेवाले योद्धा थे, वे मँजे हुए और तज्ञ गोसेवक थे। इस तरह के कर्मयोग के प्रयोग हमारे इन विद्यालयों में चलने चाहिए।

अनुभवजन्य ज्ञान

उसी तरह हमारे विद्यालयों में जो तत्वज्ञान की चर्चा चलेगी, वह प्रतिभाशाली होगी और उसमें नित्य-नये विचार सूझते रहेंगे। समाज के तत्वज्ञान में कैसे सुधार करना है, इस पर चिंतन चलेगा। आज दुनिया में साम्यवाद की चर्चा है, समाजवाद के भी कई प्रकार दुनिया में चलते हैं, हमारी सरकार कुछ करने जा रही है, जिसे वे लोग समाजवादी-रचना कहते हैं। सर्वोदय भी एक चीज है और अपने प्राचीन स्मृतिकारों की बनायी हुई एक योजना है। ये जो सारी प्राचीन और अर्वाचीन जीवन की पद्धतियाँ हैं, उन सबका अध्ययन यहाँ पर चलना चाहिए।

कुछ लोगों का खयाल है कि बुनियादी तालीम से ज्ञान का माद्दा कम रहेगा और कर्म का माद्दा ज्यादा रहेगा। लेकिन वे लोग गलत समझे हुए हैं। वे समझते नहीं कि दूसरे विद्यालयों में जो ज्ञान दिया जाता है, वह खोखला रहेगा और यहाँ का ज्ञान ठोस रहेगा। दोनों के बीच इतना बड़ा फर्क रहेगा, क्योंकि यहाँ का ज्ञान अनुभवजन्य होगा और वहाँ का तर्कजन्य। इसलिए उस ज्ञान में संशय होगा और इस ज्ञान में निश्चय। वहाँ पर जो ज्ञानी निर्माण होंगे, उनसे कम ज्ञानी यहाँ पर निर्माण

होंगे, यह धारणा गलत है। जहाँ पर ज्ञान और कर्म का भेद ही मिट जाता है, वहाँ नयी तालीम आती है। अपने आश्रम में हम खाने बैठते थे, तो खाने के साथ जो ज्ञान आवश्यक है, उसका चिंतन-मनन चलता था। हम रसोई करते, तो उसका ठीक हिसाब रखते थे। खाने के बाद हम सब अनाज साफ करने के लिए बैठते थे। इधर तो वह कार्य चलता था और उधर चर्चा चलती थी। हमने उसे 'चर्चा-मंडल' नाम दिया था। खाने के बाद मनुष्य को थोड़े आराम की जरूरत होती है, इसलिए हम उस काम को आराम ही मानते थे और काम करने की गति की ओर ध्यान न देते हुए आराम से काम करते थे। साथ-साथ दुनियाभर के विषयों पर चर्चा चलती थी, लेकिन उसे पढ़ाई का नाम नहीं दिया जाता था। इस तरह तालीम दी जाती थी, फिर भी तालीम लेने का नाम नहीं था——इतने सहजभाव से तालीम दी जाती थी।

गुरु और शिष्य

जब विश्वामित्र ने दशरथ से राम और लक्ष्मण की माँग की, तो उन्होंने यही कहा कि यज्ञ की रक्षा के लिए लड़कों को भेजिये। राम और लक्ष्मण उनके साथ गये, तो ऐसी सकाम भावना लेकर नहीं गये कि हमें गुरु से ज्ञान पाना है। ज्ञानार्जन की वासना भी सकाम भावना होती है। इसलिए मैंने आरम्भ में ही कहा था कि विद्यार्थियों के लिए गुरु-सेवा ही सर्वस्व होनी चाहिए, ऐसा नहीं मालूम होना चाहिए कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु-सेवा करनी होगी। राम और लक्ष्मण एक सेवा-कार्य लेकर विश्वामित्र के साथ निकले।

ज्ञान-दान की विधि

शाम का समय हुआ, तो विश्वामित्र ने कहा : अब संध्या का समय है, तो संध्या के लिए तैयार हो जाइये। फिर संध्या हुई और कुछ ज्ञान-चर्चा भी हुई। उसके बाद विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण के लिए पत्तों का और घास का बिछौना तैयार किया और वे दोनों उस पर सो गये। आप यह चित्र ध्यान में रखिये कि राम और लक्ष्मण राजपुत्र थे, उनकी उम्र सोलह साल से कम थी, इसलिए वे पिता के वात्सल्य-भाजन थे। तो उन्हें किस प्रकार के बिछौने पर सोने की आदत रही होगी, यह जरा सोचिये। घास के बिछौने पर सोये कि उनका विश्वविद्यालय का कोर्स शुरू हो गया।

दूसरे दिन सुबह हुई, चार ही बजे होंगे, सूरज उगने में काफी देर थी, लेकिन विश्वामित्र ने उनको जगाया। खुली हवा में, आसमान के नीचे, पत्तों के बिछौने पर सोये हुए राजपुत्रों को जगाने का काम कितना कठोर है ! उन राजपुत्रों को तो उठाने के लिए बन्दी और चारण गीत गाते होंगे और यह कहते होंगे कि अभी सूर्य उदय हो रहा है, भृंग गुंजगान कर रहे हैं, इसलिए हे रामजी ! उठिये. लेकिन यहाँ पर सूर्योदय नहीं हुआ था, सारी दुनिया सोयी हुई थी, ऐसे समय में विश्वामित्र ने मधुर वाणी से उन दोनों को उठाया। उस समय विश्वामित्र के मन में यह भावना हो रही थी कि मैं अपने बच्चों को अमृत पिला रहा हूँ। इस ब्राह्म मुहूर्त में, इस अमृत वेला में वे सोये हुए रहेंगे, तो उन्हें अमृत कैसे पिलाऊँगा, यह सोचकर उन्होंने उन्हें जगाया।

बाद में चलते समय उद्ध्वस्त अंचल दीख पड़ा, तो विश्वामित्र ने कहना शुरू किया कि यहाँ पर पहले बड़ा राष्ट्र था, लेकिन आज उसकी ऐसी दशा क्यों हुई है —इस तरह इतिहास का पाठ चला। आखिर उन्होंने उनको धनुर्विद्या भी सिखायी और यह सब करके उनसे यज्ञ की रक्षा करायी।

राम और लक्ष्मण ने यह नहीं सोचा कि हम किसी विश्वविद्यालय में दाखिल हुए हैं और तालीम पा रहे हैं। वे तो सेवा करने के लिए कर्मयोग के क्षेत्र में उतरे थे। लेकिन सेवा करते-करते उन्हें उत्तम ज्ञान दिया गया। परन्तु ज्ञान देनेवाले में भी ऐसी भावना नहीं थी कि हम ज्ञान दे रहे हैं और लेनेवाले में भी ऐसी भावना नहीं थी कि हम ज्ञान ले रहे हैं। फिर भी उत्तम ज्ञान दिया गया और लिया गया। यही नयी तालीम का आदर्श है।

मिरगानगुड़ा, कोरापुट (उड़ीसा)
१६ जुलाई १९५५

विद्या के तीन अंग : ५७ :

आजकल विद्यालयों में जो तालीम दी जाती है, उसमें लड़कों को कुछ-न-कुछ जानकारी दी जाती है, परन्तु स्वतन्त्र ज्ञान-प्राप्ति करनी चाहिए, यह बात नहीं सिखायी जाती।

बहुत-से लोग कहते हैं कि तालीम में स्वावलंबन का बहुत महत्त्व है। मेरे मन में इसका बहुत गहरा अर्थ है। तालीम में कुछ उद्योग, शरीर-श्रम सिखाना चाहिए, ताकि बच्चा स्वावलंबी बने, इतना ही मेरा अर्थ नहीं है। शरीर-श्रम तो करना ही चाहिए,

हरएक को अपने हाथ से काम करने का ज्ञान देना ही चाहिए। अगर सभी लोग हाथों से कुछ-न-कुछ परिश्रम करने लग जायंगे, तो देश में वर्गभेद नहीं होगा और देश सुखी होगा, उत्पादन भी बढ़ेगा और आरोग्य भी बढ़ेगा। इस तरह उद्योग से बहुत लाभ होंगे। इसलिए कम-से-कम उस अर्थ में तो तालीम में स्वावलम्बन का माद्दा होना ही चाहिए। यह बात सब लोग समझते हैं, परन्तु मेरा अर्थ उतना ही नहीं है।

प्रज्ञा स्वयंभू बने

मैं मानता हूँ कि तालीम में ऐसा तरीका अख्तियार करना चाहिए, जिससे कि लड़कों की प्रज्ञा स्वयंभू बने और वे स्वतन्त्र विचारक बनें। अगर विद्या में यही मुख्य दृष्टि रही, तो विद्या का सारा स्वरूप ही बदल जायगा। आजकल विद्यालयों में अनेक भाषाएँ और अनेक विषय सिखाये जाते हैं। हर बात में विद्यार्थी को वर्षों तक शिक्षक के मदद की आवश्यकता महसूस होती है। परन्तु विद्यार्थियों को इस तरह तालीम मिलनी चाहिए, जिससे कि विद्यार्थी आगे स्वयं ही ज्ञान प्राप्त कर सकें। दुनिया में अनन्त ज्ञान है। यद्यपि जीवन के लिए उस अनन्त ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, तो भी पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है। लेकिन जीवनोपयोगी ज्ञान किसी स्कूल में हासिल हो सकता है, यह विचार गलत है। जीवन के लिए उपयोगी ज्ञान तो जीवन से ही हासिल होता है। विद्यार्थियों में वह ज्ञान हासिल करने की शक्ति निर्माण करना ही विद्यालयों का काम है।

विद्या एक मौलिक वस्तु

लड़के के माता-पिता उसको स्कूल की विद्या पूरी करने का आग्रह इसलिए करते हैं कि उसे विद्या पाकर नौकरी मिल सकती है और जीवन अच्छी तरह चल सकता है, लेकिन विद्या की तरफ इस दृष्टि से देखना बिलकुल गलत है। विद्या जीवन की एक मौलिक वस्तु है। कहा गया है कि विद्या तो मुक्ति के के लिए है। इसी मुक्ति को आजकल हम स्वावलम्बन कहते हैं। अन्य आलम्बनों से, अन्य सारे आधारों से मुक्ति को ही स्वावलम्बन कहा जा सकेगा। जिसको सच्ची विद्या हासिल होती है, वह सच्चे अर्थ में मुक्त और स्वतन्त्र होता है। इसलिए शरीर के वास्ते कुछ तालीम मिलनी चाहिए और उसके लिए कुछ उद्योग सिखाये जाने चाहिए। वह तो स्वावलम्बन का कम-से-कम अंग है। नये ज्ञान की प्राप्ति की शक्ति हासिल होना, उसका एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश है।

इन्द्रिय-संयम

मुक्ति के लिए और एक तीसरी बात जरूरी है, जो शिक्षण का एक अंग है। जैसे मुक्ति के लिए पराधीनता उचित नहीं है, वैसे ही मुक्ति के लिए विकारवशता भी उचित नहीं है। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों का गुलाम है और विकारों को काबू में नहीं रख सकता, वह स्वावलम्बी या मुक्त नहीं है। इसलिए विद्या का यह तीसरा भी अंग है, जिसके वास्ते विद्या में संयम, व्रत, सेवा आदि का समावेश करना पड़ता है।

स्वावलंबन के तीन अर्थ

इस तरह स्वावलम्बन के तीन अर्थ हैं। अपने उदर-निर्वाह के लिए दूसरों पर आधार रखना न पड़े, यह उसका पहला अर्थ है। उसका दूसरा अर्थ यह है कि ज्ञान-प्राप्ति करने की स्वतन्त्र शक्ति निर्माण हो और उसका तीसरा अर्थ यह है कि मनुष्य में अपने आप पर काबू रखने की शक्ति होनी चाहिए, इन्द्रियों को और मन को वश करने की शक्ति होनी चाहिए। शरीर की पराधीनता गलत है। मन की पराधीनता गलत है। शरीर पेट के वास्ते पराधीन बनता है। इसलिए मनुष्य को अपनी आजीविका सम्पादन करने का ज्ञान उद्योग के द्वारा मिलना चाहिए। अगर मनुष्य की बुद्धि चिंतन और विचार करने में स्वतंत्र नहीं है, तो मनुष्य पराधीन बनता है। इसलिए उसे स्वतंत्र चिंतन की शक्ति हासिल होनी चाहिए। मन और इन्द्रियों की गुलामी मिटाने की बात भी विद्या से हासिल होनी चाहिए।

माता-पिता अपने लड़कों की विद्या के बारे में सोचते समय ये तीन विचार सामने रखेंगे, तो उन्हें बहुत सुख हासिल होगा। माता-पिता को इसी बात से सुख मिलता है कि उनके बच्चे सुखी और समर्थ हों और लोगों में उनके लिए इज्जत हो। केवल लड़कों को नौकरी मिल गयी और उनकी शादी वगैरह का इंतजाम हो गया, तो उनके लिए सारी व्यवस्था हो गयी, यह मानना ठीक नहीं है।

तेरुवली, कोरापुट (उड़ीसा)

२० अगस्त १९५५

चौबीस घंटे आनन्द : ५८ :

विद्या का लय

विद्यालय के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ यह है कि जहाँ विद्या का लय होता है, विद्या लोप होती है। दूसरा अर्थ यह है कि जहाँ विद्या का स्थान है, घर है, निवास है।

पहले अर्थ के विद्यालय तो हमारे देश में हजारों हैं। लोग खुद पढ़ते हैं, परीक्षा देते हैं, मानो कोई जुलाब ले लिया हो। वैसे ज्ञान का रेचन हो जाता है, सारा ज्ञान खतम हो जाता है। जिस विद्यार्थी को परीक्षा में सौ में से अस्सी अंक मिले थे, उसे पन्द्रह दिन के बाद कुछ प्रश्न पूछे गये, तो वह फेल हो गया। हमने ही उसकी यह परीक्षा ली थी। उस लड़के ने हमसे कहा कि पन्द्रह दिन के बाद हम बहुत भूल गये हैं। परीक्षा के लिए बहुत-कुछ तैयार कर रखा था। परीक्षा की तारीख अगर अठारह होती और परीक्षा सतरह तारीख को होती, तो भी दस-बीस अंक हमें कम ही मिलते। यह बात सब शिक्षक जानते हैं कि हमारे विद्यालय में विद्या का लय होता है। लेकिन वे तो कहते हैं कि हमने अगर सौ रुपये विद्या दी होगी और तीस रुपया विद्या शिष्य को मिल गयी, तो भी बहुत मिल गया। हम उसे पास करते हैं।

विद्यालय का कार्यक्रम

विद्यालय का कार्यक्रम कैसा होना चाहिए, यह सवाल है। उसका सूत्र हम बता देते हैं।

विद्यालय में परमेश्वर का आनन्दस्वरूप प्रकट होना चाहिए ईश्वर के रूप तो अनन्त हैं, पर उसके तीन रूप बड़े प्रसिद्ध हैं। एक है सत्य, दूसरा है चित् याने ज्ञान और तीसरा है आनन्द। कर्मयोग में, संसार में, जीवन में सत्य प्रधान होता है। ज्ञानियों की गुहा में और विद्वानों के पुस्तकालय में ज्ञान प्रधान होता है। भक्ति मार्ग में आनन्द प्रधान होता है। विद्यालय याने भक्ति-मार्ग, याने यहाँ हर चीज जो की जायगी, वह आनन्द के लिए ही की जायगी।

भोजन का आनन्द

खाने में तो जो भक्ति-मार्ग से बाहर हैं, वे भी आनन्द महसूस करते हैं, परन्तु रसोई में आनन्द नहीं महसूस करते। लेकिन शाला में तो बच्चे आनन्द के लिए रसोई बनायेंगे। उसमें उन्हें खूब आनन्द आयेगा। रोटी कैसे फूलती है, यह देखकर उन्हें बहुत आनन्द आयेगा। लकड़ी जल रही है और दूध उफन रहा है, यह देखने में उनको बड़ा मजा आयेगा। गोल-गोल घुमाते हैं, तो रोटी कैसे गोल-गोल बनती है; चावल पकते हैं, तो पतीली में वे कैसे नाचते-कूदते हैं, यह सारा देखने में बच्चों को बहुत मजा आयेगा। यह सारा आनन्द उपभोग करने के लिए वे लोग रसोई करेंगे और खायेंगे भी आनन्द के लिए। आनन्द के लिए माप-तौलकर खायेंगे। अगर तरकारी में माप-तौलकर नमक न डाला हो, बहुत नमक डाल दिया हो, तो आनन्द कैसे मिलेगा? तरकारी तब अच्छी लगती है, जब माप-तौलकर उसमें नमक डाला गया हो। भोजन को पेट में खूब ठूँस दो, तो फिर आनन्द नहीं

होगा। पेट दुखेगा, फिर रोना पड़ेगा, डॉक्टर को बुलाना होगा। ये सब तकलीफें हम भोगना नहीं चाहते। हमारा भोजन आनन्द के लिए होगा। दूसरे लोग खाते हैं, तो उन्हें जैसी बहुत तकलीफ होती है, वैसा हम नहीं करेंगे। भोजन के बाद हम बड़े मजे में बरतन माँजेंगे।

सोने का आनन्द

आलसी लोग रात को दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे तक जागते हैं, सिनेमा देखते हैं और कष्ट सहन करते हैं। वैसे कष्ट हम नहीं सहन करेंगे। हम बराबर आठ बजे प्रकृति की गोद में आनन्द के लिए सो जायेंगे। अभागे लोग रात में देर से सोयेंगे, फिर सपने देखेंगे, मानो राक्षस उनकी छाती पर बैठा हो। हम तो ऐसी सुन्दर निद्रा लेंगे कि सपना ही नहीं देखेंगे। बड़ा आनन्द आयेगा। हमारा कार्यक्रम बड़े आनन्द का होगा। साढ़े आठ बजे घण्टी बजी कि हम फौरन सोये।

बोधगया में सर्वोदय-सम्मेलन हुआ था। वहाँ पर दिनभर तो बड़ा ज्ञान का तमाशा चला, रात में लोगों ने आनन्द करना चाहा। बोले, सांस्कृतिक कार्यक्रम होगा। हमने पूछा, कब से चलेगा? बोले, आठ बजे शुरू होगा और दो घण्टे चलेगा। हमने उत्तर दिया कि उसमें हम नहीं जाना चाहते। हमारे लिए दो घण्टे का सांस्कृतिक कार्यक्रम नाकाफी है। हमारा सांस्कृतिक कार्यक्रम तो आठ बजे शुरू होगा और तीन बजे तक चलेगा, सात घण्टा हम बराबर नींद लेंगे। सबसे बढ़िया सांस्कृतिक कार्यक्रम यह है। सोने का आनन्द नहीं खोना चाहिए।

ब्रह्मवेला का आनन्द

चार बजे सुबह उठने का कार्यक्रम भी कितना आनन्द का है। ठण्ढ में उठेंगे और दौड़ेंगे। फिर ठण्ढ भी दौड़ेगी। हम सोते हैं, तो ठण्ढ भी हमारे साथ सोती है। शरीर थरथर काँपता है। हम बैठते हैं, तो ठण्ढ भी हमारे पास बैठती है। हम दौड़ना आरम्भ करते हैं, तो ठण्ढ भी दौड़ जाती है। सुबह उठने में और दौड़ने में उत्साह आता है। इसलिए सुबह उठने का आनन्द और फिर दौड़ने का आनन्द हम नहीं छोड़ेंगे।

नाश्ते का आनन्द

सूर्योदय के बाद शरीर स्वच्छ करेंगे। आँख, कान, नाक धोयेंगे। शहर के लोग तो मुँह धोने के पहले ही चाय पीते हैं। कल का बरतन अगर माँजा नहीं, तो उसीमें पकायेंगे। यह कैसे चलेगा? हमारा मुँह भी तो एक बरतन है। ऐसा गन्दा मुँह रखकर लोग चाय पीते हैं। फिर दाँत बिगड़ते हैं, पस बहता है और वह खाने में पेट के अन्दर चला जाता है। सुन्दर-सुन्दर मिठाई के साथ पस भी अन्दर चला जाता है। फिर बीमारी आती है। तब नौबत आती है दाँत निकालने की। इसलिए सुबह उठकर शरीर को स्वच्छ-निर्मल करेंगे। उसके बिना खायेंगे नहीं। स्वच्छ होकर हम थोड़ा जलपान करेंगे। पचास चीजें पेट में नहीं डालेंगे। पचास प्रकार डालेंगे, तो पेट को मालूम ही नहीं होगा कि क्या काम करना चाहिए। एक ही हंडी में तरकारी, दाल, रोटी, सब डालेंगे, तो कैसे पकेगा? कोई चीज दो घण्टे में पकती है। कोई चीज ऐसी होती है, जो चार घण्टे में पकती है और कोई चीज ऐसी

होती है, जो छह घण्टे में पकती है। दाल-भात खा लिया, तो चार घण्टे में पचेगा। दूध दो घण्टे में पचेगा। पचने के लिए अलग-अलग समय लगता है। सारी चीजें एकदम पेट में डालते हैं, तो बड़ी गड़बड़ हो जाती है। इसलिए सुबह के नाश्ते में कुछ हलका-सा खाना चाहिए।

खेती का आनन्द

खाने के बाद हम कुदाल लेकर मजे से खेत में जायेंगे। खूब खेती करेंगे। मजेदार खेती आयेगी। बोना है, पौधा है, तो पानी देना है, कहीं काटना है, कहीं इधर की मिट्टी उठाकर उधर डालनी है। खेत में कहीं टीला है, कहीं गड्ढा। यह कैसे चलेगा? टीले को तोड़कर सब समान बनाना होगा। बचपन में ही बच्चे यह काश्त करने का आनन्द सीखेंगे, तो बड़े होकर दूसरा आनन्द भी उन्हें मिलेगा।

पढ़ाई का आनन्द

फिर थोड़ा पढ़ने का आनन्द होगा, लिखने का आनन्द होगा, कुछ थोड़ा याद रखने का आनन्द होगा, संगीत पढ़ने का आनन्द होगा, चित्रकला का आनन्द होगा। इस तरह कुल मिला-कर चौबीस घण्टे आनन्द का कार्यक्रम होगा। इसको कहते हैं, भक्ति-मार्ग। यही विद्यालय का कार्यक्रम होगा।

छुट्टी का सवाल ही नहीं

आज तो लोग बच्चों को आठ घण्टे मिल में ठूँस करके, खानों में डाल करके उनसे काम लेते हैं। याने सुबह आठ बजे

से शाम को चार बजे तक दुःख का कार्यक्रम । उसके बाद कहते हैं, एक घण्टा आनन्द करो और खेलो। स्कूल में न हाथ को काम है, न पाँव को। लगातार बैठे रहते हैं । पाँच-पाँच घण्टे बैठने से बच्चे बेचारे तंग आ जाते हैं। छह दिन स्कूल होता है,तो ये लोग सोचते हैं कि दे दो इनको एक दिन की छुट्टी । याने छह दिन कुट्टी और एक दिन छुट्टी। हम कहते हैं कि यह हमारा स्कूल नहीं है, हमारे यहाँ छुट्टी नहीं रहेगी; क्योंकि हमारे यहाँ कुट्टी नहीं रहेगी। इस तरह हमारे जीवन का आनन्दमय कार्यक्रम रहेगा।

कुजेन्द्री, कोरापुट (उड़ीसा)
२६ सितम्बर १९५५